शैक्षणिक संदर्भ

वर्ष: 18 अंक 102 (मूल क्रमांक 159)
जुलाई-अगस्त 2025 मूल्य: ₹ 50.00

सम्पादन
राजेश खिंदरी
माधव केलकर

सहसम्पादक
पारुल सोनी

सहायक सम्पादक
अतुल वाधवानी

सम्पादकीय सहयोग
हिमांशु बावनकर

सम्पादकीय सलाहकार
सुशील जोशी
उमा सुधीर

आवरण: राकेश खत्री

वितरण: झनक राम साहू

सहयोग: कमलेश यादव

शैक्षणिक
संदर्भ

वर्ष: 18 अंक 102 (मूल क्रमांक 159)
जुलाई-अगस्त 2025 मूल्य: ₹ 50.00

मूल्य: ₹ 50.00

एकलव्य फाउण्डेशन
जमनालाल बजाज परिसर
जाटखेड़ी, भोपाल-462 026 (म.प्र.)
फोन: +91 755 297 7770, 71, 72, 4200944
www.sandarbh.eklavya.in
सम्पादन: sandarbh@eklavya.in
वितरण: circulation@eklavya.in

अब *संदर्भ* आप तक पहुँचेगी रजिस्टर्ड पोस्ट से।

सदस्यता शुल्क	एक साल (6 अंक)	तीन साल (18 अंक)	आजीवन
	600.00	1500.00	10000.00

मुखपृष्ठ: नर बेट्टा मछली की तस्वीर। भड़कीले रंग और झबरीले पंख-पूँछ वाली नर बेट्टा मछलियाँ आपस में लड़ाई करती हैं। इस जीत-हार में मादा किसे पसन्द करती है? पसन्द के आधार कई हैं। आकार, बल, व्यवहार या कुछ और? ये प्यार नहीं आसान। जीव जगत में प्यार के कई रंग हैं – कुछ आक्रामक, तो कुछ सहमे हुए। जानिए इस विविधता के बारे में, विपुल कीर्ति शर्मा के लेख में, पृष्ठ 11 पर।

कवर 3: लाइम तितली की तस्वीर। यह सुन्दर-सी तितली जब छोटी थी तो किसी जानवर की टट्टी की तरह दिखती थी। हैरत-अंगेज़ है न! हैरत तो इसके बुद्धूपन और बुद्धिमानी के मिश्रण को देखकर भी होती है। मगर प्रकृति ऐसे मिश्रणों से भरी पड़ी है। यह देखने के लिए बहुत दूर भी नहीं जाना पड़ता। युवान एविस अपने लेख में एक ऐसी नज़र साझा करते हैं जो इस तितली की उड़ान जैसे यहाँ-वहाँ, ऊपर-नीचे, हर खुशबू के पीछे-पीछे ले जाती है। पन्ने फड़फड़ाइए, खोलिए पृष्ठ 05 और उड़ चलिए आप भी साथ-साथ!

पिछला आवरण: बच्चों के बीच जयंत नारलीकर। अपनी विज्ञान कथाओं से इन्हीं बच्चों जैसे अनेक पीढ़ियों के बच्चों और बड़ों को विज्ञान से दिल्लगी करवाने वाले वैज्ञानिक – जयंत नारलीकार – विज्ञान कथाएँ क्यों लिखते थे? सच और कल्पना को बड़ी सहजता से कला के रूप में पेश करना आसान नहीं होता। समीक्षाएँ होती हैं – कुछ कटु, तो कुछ निरी हास्यास्पद। ऐसे में तब भी लिखते जाना, तमाम व्यस्तताओं के बावजूद – क्यों? जवाब भी वे लिखकर ही देते हैं, पृष्ठ 29 पर अपने लेख में।

यह अंक त्रिवेणी एजुकेशनल ट्रस्ट के वित्तीय सहयोग से प्रकाशित किया जा रहा है।

LINK : कवर 1 - https://in.pinterest.com/pin/140806225302845/
कवर 3 - https://rahulalvares.com/wp-content/uploads/2018/04/6O4A6010.jpg
कवर 4 - https://www.jvnarlikar.blog/p/sharing-the-thrills-of-science

इस अंक में उन चित्रों के स्रोत जिनके बारे में चित्र या लेख के साथ उल्लेख नहीं है, इंटरनेट की विविध वेबसाइट हैं।

नया प्रकाशन

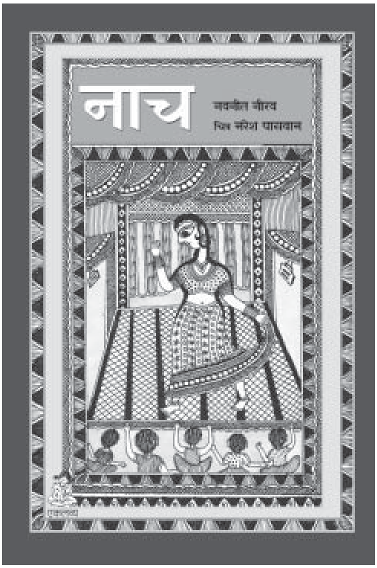

नाच

मूल्य: ₹ 75

'नाच' अद्‌भुत संवेदनशीलता के साथ रची और बुनी गई कहानी है। लेखक ने कमाल लिखा है।

- राजेन्द्र गुप्ता, मशहूर अभिनेता व निर्देशक

सरोज की बहुत-सी बातें ज़ाहिर नहीं थीं। वह अपने हमउम्र साथियों जैसा नहीं सोचता था। उसकी सोच, उसकी चाह, उसकी इच्छाएँ... सबकुछ अलग-सा था। लेकिन सच तो यह है कि कोई उसे समझता नहीं था - न माँ, न पिता और न ही समाज।

यह किताब एक सफर है सरोज का...जिसमें सरोज खुद को खोजते हुए एक ऐसी दुनिया की तलाश में हैं, जहाँ उनके लिए और उनके जैसे तमाम लोगों के लिए प्यार व अपनापन हो!

अपनी प्रति के लिए सम्पर्क करें...

एकलव्य फाउण्डेशन

जमनालाल बजाज परिसर, जाटखेड़ी, भोपाल - 462 026 (मप्र)

फोनः **+91 755 297 7770-71-72;** ईमेलः **pitara@eklavya.in**

www.eklavya.in | www.eklavyapitara.in

एकलव्य

ईशांगो बोन

1950 में, बेल्जियन कांगो (आज के डेमोक्रेटिक रिपब्लिक ऑफ कांगो) के ईशांगो में खोजी गई करीब 20,000 साल पुरानी, 10 सेमी लम्बी भूरे रंग की एक हड्डी सम्भवतः मानव इतिहास का पहला कैलेंडर है। इस पर तीन-चार कतारों में उकेरे गए निशान बेतरतीब नहीं नज़र आते, बल्कि अभाज्य संख्याओं जैसी गणितीय समझ का इशारा भी करते हैं। मगर इतिहास के इन शुरुआती पन्नों पर इन्सान को गणित की क्या ज़रूरत पड़ी होगी? आमोद कारखानीस का यह लेख इसी कल्पना के सफर पर ले चलता है।

22

बच्चों का बैंक

पैसे पास होते तो पेंसिल लाते। मगर पैसे कहाँ गए? चोरी हो गए, नहीं तो स्कूल के पास की दुकान से कुछ खाने-पीने में खर्च हो गए? ऐसी मुश्किलों से गुज़रते आधारशिला लर्निंग सेंटर में बच्चों के बैंक जैसा नवाचार शुरू किया गया। अब भला बैंक सँभालना कोई आसान कौड़ी थोड़े ही है! मुश्किलें आईं, मगर कैसे निपटी गईं, इसके लिए पढ़िए अमित और जयश्री के आधारशिला के अनुभवों पर आधारित लेखों की शृंखला का यह दूसरा भाग।

37

शैक्षणिक संदर्भ

अंक-102 (मूल अंक-159), जुलाई-अगस्त 2025

इस अंक में

05 | बेल के पौधे और लाइम तितली की इल्लियाँ
युवान एविस

11 | मादाएँ अपने नर पार्टनर में क्या देखती हैं?
विपुल कीर्ति शर्मा

22 | ईशांगो बोन
आमोद कारखानीस

29 | मैं विज्ञान कथाएँ क्यों लिखता हूँ?
जयंत नारलीकर

37 | बच्चों का बैंक
अमित और जयश्री

45 | सुबह की संगीत सभा
अनिल सिंह

54 | बच्चे और एटलस - 2
प्रकाश कान्त

67 | ग्रीन थाई करी
अस्फिया

79 | व्हाइट नॉइज़
डॉन दलीलॉ

83 | वर्षा होने के तुरन्त बाद मेंढक क्यों दिखने लगते हैं?
सवालीराम

आपने लिखा

संदर्भ अंक-154 में 'शिक्षकों की कलम से' कॉलम में लेख *वो बचपन जो कुछ खास है* पढ़ा। बहुत ही अच्छा लगा पढ़कर क्योंकि प्रकाश जैसे बच्चे हमारे सरकारी स्कूलों में अक्सर देखे जा सकते हैं। प्रकाश के साथ शारीरिक और पारिवारिक, दोनों तरह की स्थितियाँ बहुत सुखद नहीं रहीं। इसका सीधा असर बच्चे के व्यक्तित्व पर पड़ता है। जिन बच्चों को प्यार-दुलार नहीं मिलता, उनके जीवन में इस कमी की छाप ताउम्र रहती है। उनमें आत्मविश्वास की कमी बनी रहती है। साथ ही, यह बात भी बिलकुल सही है कि जो बच्चे शारीरिक रूप से अक्षम होते हैं, उन्हें हमारे समाज में आसानी-से स्वीकार्यता नहीं प्राप्त होती। और वह बच्चा स्वयं भी दीनहीन भावना से ग्रसित हो जाता है। लेकिन यहाँ एक कर्मठ और संवेदनशील शिक्षक मिलने पर स्थिति बदली। सिर्फ एक संस्था के होने भर से नहीं बल्कि उनके एक अच्छे इन्सान होने की वजह से भी जिन्होंने उस बच्चे को समझा, उसे लेकर किसी तरह के पूर्वाग्रह से ग्रसित नहीं थे। और असली शिक्षा का मकसद भी यही है।

प्रेरणा मालवीय
अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन
भोपाल, मप्र.

संदर्भ अंक-153 में प्रकाशित माधव केलकर का लेख *वो नज़रिया* पढ़ा। यह लेख पढ़ते हुए मुझे अपने सभी विशेष रूप से सक्षम बच्चों की याद आई। आज मैं यह महसूस कर पा रही हूँ कि वे कभी यह पसन्द नहीं करते कि उन्हें दया का पात्र समझा जाए। वे चाहते हैं कि उनसे हमेशा सामान्य बच्चों की तरह बर्ताव किया जाए। यहाँ पर भी लेखक पहले जिस नज़रिये से अपनी बहन को देखते हैं और अक्सर कहते हैं कि 'वह कुछ भी नहीं कर पाती', उनका वह नज़रिया तब बदलता है जब स्नेह निकेतन की मैडम ने उनकी बहन द्वारा किए जाने वाले कामों की लिस्ट बनाने को कहा। जो काम हमारे लिए साधारण-से हो सकते हैं, वे इन बच्चों के लिए बहुत खास हो सकते हैं। बस, फर्क है तो सिर्फ नज़रिये का।

आज हर बच्चा पहले दिन से ही बस में विद्यालय जाता है। लेकिन विशेष रूप से सक्षम बच्चों के लिए सबके साथ वैन से विद्यालय जाना भी एक उपलब्धि होती है।

ये बच्चे अक्षम नहीं बल्कि चीज़ों को दूसरे तरीके से करने (सीखने) में सक्षम हैं तभी तो वे स्पेशल हैं। उन्हें दया नहीं, स्नेह और वह दूसरा रास्ता चाहिए जिससे वे सीख सकें। महत्वपूर्ण यह है कि हमारा नज़रिया उनके प्रति क्या है और छोटी-छोटी उपलब्धियों के लिए हम उन्हें प्रोत्साहन देते हैं या नहीं।

रुकमणी सजवान,
प्रभारी प्रधानाध्यापिका
राजकीय प्रा. विद्यालय
गदरपुर, उत्तराखण्ड

बेल के पौधे और लाइम तितली की इल्लियाँ

युवान एविस

लाइम तितली

जुलाई का महीना। दोपहर का वक्त। सुबह से छोटे बच्चों की क्लासें लेने के बाद, मैं अपने मन को दुरुस्त करने जड़ी-बूटियोंवाले बगीचे में टहलने आया हूँ। अभी भी गर्मियों की शदीद धूप की तेज़ी महसूस होती है। जैसा कि मुझे अन्देशा था, मेरी भटकती नज़रों के सामने एक इकलौती लाइम तितली (*Papilio demoleus*) आती है। ऐसा लगता है कि वो बगीचे में किसी खास मकसद से मण्डरा रही है। बहुत जल्द ही वो बेल के पौधों (*Aegle marmelos*) पर अपने अण्डे देगी। मुमकिन है कि वो इस मौसम के सबसे पहले अण्डे होंगे। इनकी इल्लियाँ तो अपने खाने के मामले में बहुत नुक्ताचीन होती हैं, लेकिन ये तितलियाँ खुद अपने 'मेज़बान पौधे' या 'होस्ट प्लांट' को ढूँढने में बिलकुल नाकाबिल हैं। मैं जिस तितली को अभी देख रहा हूँ, वो किसी भी बेल के पौधे के पास आने से पहले किसी कचनार या फिर अमलतास का मुआइना करती रहती है।

तितली की खोज यात्रा

पिछले साल की बात है, हमारे एक माली ने नहाने के बाद लम्बी घास पर सूखने के लिए एक हरे रंग का घिसा हुआ तौलिया डाला था। जब मैं ऐसे ही वहाँ टहलने गया, तो मुझे एक लाइम तितली इस तौलिये के पास बार-बार जाती दिखी। क्या ये

सिर्फ इस तितली की जिज्ञासा थी, या क्या वो हरा घिसा-पिटा तौलिया उसे हरियाली लग रही थी? मेरे हिसाब से उसे तौलिया पौधा ही लग रहा था क्योंकि वो उसपर अण्डे देने ही वाली थी कि एकदम से उसको असलियत का एहसास हुआ और वो फुर्र से उड़ गई।

सुनने में आया है कि तितलियों की सूंघने की काबिलियत, उनके देखने की कुव्वत से बहुत आला होती है। लेकिन जैसा कि सब जानते हैं, उनके नथुने उनके सामने वाले पैरों पर होते हैं। जब कोई अण्डे देने वाली तितली, अपने मेज़बान पौधे को ढूँढती हुई किसी पौधे के पास जाती है, तो वो उसकी महक लेने के लिए उसके पत्तों को एक तबलची की तरह थपथपाती है। इस रवैय्ये को 'ड्रमिंग' का मुनासिब नाम दिया गया है। बहुत सारी आज़माइशों और गलतियों के बाद वो आखिर अपने मेज़बान पौधे को ढूँढ ही लेती है। अब उसके थपथपाने की लय बढ़ जाती है और वो उस पौधे के एक-एक पत्ते की लम्बी जाँच करती है ताकि वो अपने बच्चों के खाने के लिए सबसे अच्छे और मुलायम पत्ते चुन पाए। मोटे, पुराने, रोगी और कीड़ों के चबाए पत्ते हिकारत से रद्द कर दिए जाते हैं। कुछ अण्डे देने वाली तितलियाँ पत्ते जाँचने और चुनने में इतना वक्त लगा देती हैं कि बीच में उनको नज़दीकी घामरा या वन तुलसी के फूलों से रस पीकर अपनी ताकत की टंकी दोबारा भरनी पड़ती है।

परस्पर सम्बन्धों का जटिल जाल

इस साल बगीचे में कुछ मिलनसार मकड़ियाँ (*स्टेगोडायफस सरासिनोरम*) अपने जाल फैलाकर बेल के पौधे की नई किरायेदार बन गई हैं। उनका घर मिसाल-ए-फटेहाली है: बीच में घने रेशों का गढ़ जिसके रखवाले बहुत ही कम बाहर निकलते हैं और उसके छोर बेतरतीब आड़े-तिरछे धागों से उनके चुनिन्दा पौधों की पत्तियों और टहनियों से बँधे होते हैं। इन मकड़ियों को अपने जाल हमारे कैंपस के रास्तों वाले सौर्य लैंप पर लगाना बहुत पसन्द है क्योंकि मुझे लगता है कि उनको वहाँ शिकार के

चित्र-1: *स्टेगोडायफस सरासिनोरम मकड़ी। इंडियन कोऑपरेटिव स्पाइडर के नाम से जानी जाने वाली यह एक सामाजिक मकड़ी की प्रजाति है जो भारत, श्रीलंका, नेपाल और म्यांमार में पाई जाती है। ये मकड़ियाँ अपने सामूहिक जीवन और सहयोगात्मक जाले बनाने व मिल-जुलकर शिकार करने के लिए जानी जाती हैं।*

लिए कीड़ों का भण्डार मुसलसल मिलता है। बहरहाल, हर महीने ये जाल साफ किए जाते हैं, नहीं तो उनकी रोशनी पूरी तरह बन्द हो जाती है। जब कोई बदनसीब कीड़ा मकड़ियों के रेशों-धागों में फस ही जाता है, तो वो मक्कड़-दल फौरन हरकत में नहीं आते। लेकिन अगली सुबह तक आपको मालूम चलेगा कि उनका शिकार या तो खा लिया गया है या उसे अन्दर गोदाम में ले जाया जा चुका है।

इनके अलावा, बेल के पौधों के नीचे 'ज़ालिम चींटियों' (*केम्पोनोटस कम्प्रेसस*) ने अपना बिल बनाया है। जैसी कि चींटियों की फितरत होती है, ये बहुत मसरूफ रहती हैं: कतार बाँधकर खाना तलाशती और गिरे हुए टुकड़ों और निवालों को बटोरती

चित्र-2: *केम्पोनोटस कम्प्रेसस प्रजाति की चींटियाँ घोंसले बनाने के लिए खुदाई करती हुईं। ये चींटियाँ आम तौर पर बारिश के बाद अपने घोंसले खोदती हैं। सम्भवतः इसका कारण मिट्टी का नम होना होगा।*

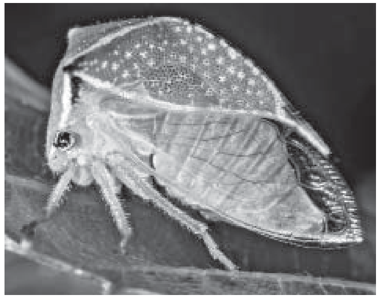

चित्र-3: *ट्री हॉपर*

रहती हैं। और कुछ नहीं तो वो रेत के ज़र्रे बाहर पटक-पटक के अपने बिल का इलाका और फैलाती हैं, जिससे अब बेल के पौधे के इर्द-गिर्द एक भयंकर खन्दक बन चुका होता है।

सींगवाले ट्री हॉपर (एक किस्म का कीड़ा) इन पौधों की टहनियों-शाखों पर रहते हुए, उसका रस पीते हैं। चींटियाँ बड़ी शिद्दत से इनकी हिफाज़त करती हैं और इस पहरेदारी के बदले ट्री हॉपर्स उनको अपना बचाया हुआ रस देते हैं। इस रस को चींटियाँ अपनी बॉडी-गार्ड सेवा की तनख्वा मानकर खुशी-खुशी निगल लेती हैं। अपनी नीचेवाली पड़ोसी चींटियों से बिलकुल ही अलग, ट्री हॉपर्स बहुत ही कम हिलते-डुलते हैं, सिवाय जब कोई उन्हें छेड़ दे तो वो उसी टहनी पर घूम के वापिस अपनी बे-हरकत ज़िन्दगी जारी कर लेते हैं। अब, लम्बे अरसे से खाली इस पौधे की ऊपरी

मंज़िल पर मकड़ियों ने कब्ज़ा कर लिया है।

आम तौर पर लाइम तितली अपने द्वारा चुने हुए किसी पत्ते के नीचे एक-एक करके अण्डे देती है। या कभी-कभी आसपास की घास या झाड़ियों पर। ऐसा लग रहा है कि जिस लाइम तितली को मैं अभी ताक रहा हूँ, वह अपने अण्डे इस नए मकड़ी के जाल के खासा नज़दीक देना चाह रही है। बल्कि एक अण्डा तो उसने जाल पर ही दे दिया है जो अब एक रेशे से टँगा है। ऐसा करते हुए इसकी टांगें एक-दो बार जाल में उलझ भी गईं। इस तितली ने ऐसा शायद बहुत सोच-समझकर किया है लेकिन यह रवैय्या मेरे लिए बहुत नया है। गालिबन ये मकड़ियाँ इन अण्डों को उनके शिकारी और परजीवियों से बचाने के लिए मुफ्त की पहरेदारी देती होंगी। इसलिए इस अनुमान के सच का पता करने के लिए, मैं अब इस कारगुज़ारी पर अपनी नज़र बनाए रखूँगा।

मेज़बान पौधों का संघर्ष

इस साल बेल के पौधे तकरीबन पाँच फुट के हो गए हैं और इनकी पत्तियों का लिबास इतना बढ़ गया है कि वो लाइम इल्लियों के लालची जबड़ों का सामना दोबारा कर पाएँगे। कुछ ही साल पहले तक ये छोटे पौधे नुच-नुच कर तकरीबन एक खाली ठूँठ बनकर रह जाते थे।

इनसे मिलती-जुलती कॉमन मॉरमॉन तितली की इल्लियाँ भी हमारे खाए जाने वाले बहुत-से पौधे पसन्द करती हैं। जो मीठी नीम के पौधे कभी-कभार रसोई के पीछे लगाए जाते हैं, अगले साल तक कभी भी बच नहीं पाते। कैंपस के बाहर वाला नींबू का पेड़ हर साल तहस-नहस होने के बावजूद इन मुसीबतों को झेलकर सीधा और मुस्तैद खड़ा है। इल्लियों को नींबू के पेड़ के गहरे हरे और तेज़ खुशबू वाले पत्ते पसन्द नहीं हैं इसलिए वो उनको छोड़ देती हैं। अलबत्ता, उनके ताज़े और मुलायम पत्तों की सिर्फ बीच की रग बचती है।

हमारे देश में नई दुनिया (उत्तर और दक्षिण अमरीका) से लायी गई बहुतेरी घुसपैठी प्रजातियों (इनवेसिव स्पिशीज़) का दबदबा फैला हुआ है जिनमें विलायती कीकड़ या बावलिया (*Prosopis juliflora*) और बेहद खिजाऊ कॉकरोच आदि शामिल हैं। लेकिन हम पश्चिमी देशों के मौसम्बी उगाने वाले किसानों के गम और तकलीफें भी सुनते हैं। उनको हमारी लाइम तितली की इल्लियों का सामना करना पड़ता है जो किसी वापसी के सफर में गलती से उधर पहुँच गई थीं।

लेकिन उन भुक्कड़ इल्लियों को एक भारी कीमत चुकानी पड़ती है जब वो छोटे पौधों की सारी पत्तियों को चट कर बिलकुल ही नंगा कर देती हैं। अब वो इल्लियाँ पत्तों के पीछे

छुप नहीं पातीं, लिहाज़ा कोई बुलबुल या बी-ईटर (एक परिन्दे की नस्ल) फौरन आकर एक-एक इल्ली को चुग जाती हैं। चाहे कोई मेज़बान पौधा हो या हमारी यह मेज़बान धरती, उसका बेहिसाब फायदा उठाना लम्बे समय तक जीने का कारगर तरीका नहीं हो सकता।

इल्लियों की रक्षा युक्तियाँ

कुछ ही दिनों में लाइम तितली के हरे-हरे मोती-नुमा अण्डों से बच्चे निकल आएँगे। अपनी ज़िन्दगी के पहले हिस्से में ये इल्लियाँ टट्टी जैसी दिखती हैं। बहुत लोगों ने इसके बारे में लिखा है कि ये चिड़ियों की बीट की तरह दिखती हैं। लेकिन मुझे ये रेंगने वाले जानवरों की बीट की तरह ज़्यादा लगती हैं। जैसे किसी साँप की मौसी (जिसको अँग्रेज़ी में 'स्किंक' कहते हैं) या बगीचे-वाली छिपकली, या छोटे कीलबैक साँप की बीट की तरह। इस युवा इल्ली का सर और पिछवाड़ा मटियाले रंग का होता है, और इनके बीच में, धड़ फीके मलाईदार रंग का – कुल मिलाकर ऐसी रंगत कि किसी की भी भूख खराब कर दे। अगर अचानक कोई हरकत या गड़बड़ हुई, तो ये छोटी-मोटी इल्लियाँ अपनी मक्कारी का एक नया नज़ारा पेश करती हैं। वे ज़मीन पर टपककर कुछ देर बेहरकत पड़ी रहती हैं, गोया वो सचमुच किसी चीज़ की लेंडी हों।

चित्र-4: *लाइम तितली की इल्लियाँ चिड़िया की बीट की तरह दिखती हैं। इन युवा इल्ली का सर और पिछवाड़ा मटियाले रंग का और इनके बीच में, धड़ फीके मलाईदार रंग का होता है। इस तरह का रूप इन इल्लियों को सुरक्षा प्रदान करता है।*

चित्र-5: ईवन-बैंडेड हॉक मॉथ की इल्ली। यह इल्ली एक मुरझाए हुए पत्ते की तरह फीके पीले रंग की दिखती है।

खतरा महसूस होते ही अन्य तितलियों और पतंगों की इल्लियाँ भी इसी तरीके को अपनाते हुए, किसी बदमज़ा या घिनौनी चीज़ की नकल करके ज़मीन पर गिर जाती हैं (अक्सर कोई ऐसी चीज़ की तरह जो ज़मीन पर ही पाई जाती है)। इसका एक और अच्छा उदाहरण 'ईवन-बैंडेड हॉक मॉथ' (*Neogurelca hyas*) है। इसकी इल्लियाँ नोनी की पत्तियों (*Morinda tinctoria*) की पक्की चटोरी होती हैं। इसकी इल्ली एक मुरझाए हुए पत्ते की तरह फीके पीले रंग की होती है। अगर कोई चीज़ उसको छुए या तंग करे तो वह अपने पैर अन्दर छुपाकर, एक सूखे पत्ते की तरह बिलकुल सीधी हो जाती है। और अगर कोई फिर से तंग करे तो ज़मीन पर जा टपकती है।

(...जारी)

यूवान एविस: हिन्दुस्तान के लेखक, प्रकृतिवादी, शिक्षक और एक्टिविस्ट। वर्तमान में, अबेकस मॉण्टेसरी स्कूल में 'फार्म, पर्यावरण और समाज' कार्यक्रम का समन्वय करते हैं। उन्होंने दो किताबें और कई लेख लिखे हैं। शायद सैंक्चुअरी के अब तक के सबसे कम उम्र के ग्रीन टीचर पुरस्कार प्राप्तकर्ता, युवान सबसे बेहतरीन, सबसे करिश्माई प्रकृति के शिक्षाविदों में से एक हैं। *बेल के पौधे और लाइम तितली की इल्लियाँ* लेख के लिए यूवान को 2017 में मद्रास नेचुरलिस्ट्स सोसाइटी से एम. कृष्णन नेचर राइटिंग अवार्ड मिला था। यूवान का काम उनके इंस्टाग्राम खाते a_naturalists_column पर देखा जा सकता है।

अँग्रेज़ी से अनुवाद: फज़ल रशीद: ज़्यादातर बागबानी और पेड़-पौधों से जुड़े कामों में मसरूफ रहते हैं। भोपाल में निवास। सम्पर्क - fazalrashid@gmail.com

यह लेख *कथादेश* पत्रिका के अंक - दिसम्बर 2024 से साभार।

मादाएँ अपने नर पार्टनर में क्या देखती हैं?

विपुल कीर्ति शर्मा

इस लेख श्रृंखला में अब तक हम देख चुके हैं कि विविध जीवों में नर या मादा अपने सेक्स पार्टनर की खोज किस तरह करते हैं, पार्टनर की खोज में अपने विविध संवेदनशील अंगों का किस तरह उपयोग करते हैं, अपने प्रतिद्वन्द्वियों से किस तरह पेश आते हैं, पार्टनर को रिझाने के लिए क्या कुछ करते हैं, जिसमें तोहफे देने से लेकर, मनमोहक खुशबू का इस्तेमाल करने तक सब शामिल हो जाता है। अब हम बात करने वाले हैं कि मादाओं की नरों से क्या अपेक्षाएँ होती हैं, पढ़िए इस लेख में ।

मादाएँ अपने नर पार्टनर में क्या देखती हैं, इसकी शुरुआत इन्सानों से ही करते हैं। स्त्री और पुरुष प्यार, रोमांस या सेक्स के लिए जिस पार्टनर की तलाश में होते हैं, उस पार्टनर में वे कुछ चीज़ें ज़रूर देखना चाहते हैं। जैसे - खूबसूरती, रंग, कद-काठी, आकर्षक पहनावा, आभूषण, केश विन्यास। फिर इसके बाद - भाव-भंगिमा, वाक-पटुता, विनोद-प्रियता, हँसमुखपन, संवेदन-शीलता, मधुर वाणी, सामाजिक-आर्थिक हैसियत आदि।

आप इन दोनों सूचियों पर नज़र डालेंगे तो समझ आएगा कि इनमें से कुछ गुण तो जन्मजात मिलते हैं, कुछ गुण या हुनर सीखे जाते हैं और कुछ सामाजिक दबाव की वजह से अपेक्षाओं में शामिल हो गए हैं। आप यह भी जानते ही हैं कि आकर्षक दिखने की इस जद्दोजहद से ही दुनिया में श्रृंगार प्रसाधनों, वस्त्रों और शरीर सौष्ठव (जिम) के उपकरणों का व्यापार अपने चरम पर है। खूबसूरती की सूची में कुछ भी शामिल हो सकता है - चाहे काली त्वचा को गोरी करना, चाहे गंजों के सिर पर बाल उगाना, या चाहे बुढ़ापे को रोकना। यहाँ आप यह भी मानकर चल सकते हैं कि आकर्षक दिखने का एक प्रमुख उद्देश्य है — रोमांस, प्यार और यौन सम्बन्धों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त पार्टनर को प्राप्त करना। चलिए, इन्सानों की बातें तो काफी हुईं, अब अन्य प्राणियों की बात करते हैं।

अन्य प्राणियों में

अन्य जीवों को भी अपना पार्टनर खोजने के लिए काफी पापड़ बेलने पड़ते हैं। कुछ जीवों में नर और मादा में लैंगिक द्विरूपता (sexual dimorphism) काफी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। यानी उस जीव में नर मादा से भिन्न दिखते हैं। यदि आप अपने आसपास के जीवों से शुरू करेंगे तो मुर्गा, तोता, मोर, बब्बर शेर तक आपको कई उदाहरण दिखाई दे जाएँगे। गिर के नर शेर की गर्दन के पास के लम्बे-लम्बे बाल जिसे अयाल भी कहते हैं, शेरनी के लिए आकर्षण हैं। अनेक पक्षियों में भी किसी एक लिंग के सुन्दर पंख, उनके उड़ने, उछलने-कूदने की कलाबाज़ियाँ और मोहक दृश्य विपरीत सेक्स को लुभाते हैं। यह निष्कर्ष निकालना सहज और सरल है कि प्रथम प्रभाव तो हम कैसे दिखते हैं, इसका ही होता है।

जैसा कि हमने शुरू में ही कहा कि इन्सान तो कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधनों का उपयोग करके भी अपने आपको खूबसूरत बना और दिखा सकते हैं किन्तु अन्य जीवों का रूप-रंग तो बनावटी नहीं होता, वह प्रकृति प्रदत्त होता है। उनका वह रूप उत्तम स्वास्थ्य और जैविक सक्षमता का वास्तविक और विश्वसनीय प्रतीक होता है। वे सम्भावित साथी को पसन्द आने में प्राकृतिक बाह्य बनावट या रंग-रूप पर निर्भर होते हैं।

जीवों की सूची में कुछ ऐसे जीव भी शामिल हैं जिनकी नज़र कमज़ोर होती है या हालात ऐसे हों कि बहुत दूर तक देख पाना कठिन है, जैसे निशाचर जीव या बिल बनाकर रहने वाले जीव या गहरे समुद्रों में पाए जाने वाले प्राणी। ऐसे सभी हालातों में अपने पार्टनर की तलाश सीधे देखकर नहीं की जा सकती, वहाँ साथी की तलाश अन्य तरीकों जैसे - आवाज़, गन्ध, कम्पन या प्रतिदीप्ति से की जाती है।

जीवों के व्यक्तित्व पर शोधकार्य

जन्तुओं के व्यक्तित्व पर आधारित पारिस्थितिकी का अध्ययन करने वाले अनेक शोधार्थियों का यह अवलोकन है कि प्रत्येक प्रजाति में कुछ सदस्यों के लक्षण एवं व्यवहार अन्य से भिन्न होते हैं। ये वे सदस्य हैं जिनमें शारीरिक सम्पन्नता के अलावा भी कुछ ऐसी विभिन्नताएँ व गुण मौजूद होते हैं जो उन्हें मादा से सेक्स के अधिक अवसर प्रदान करते हैं।

कुछ वर्षों पूर्व तक व्यवहार में विभिन्नता दर्शाने वाले गुणों को अमहत्वपूर्ण या अप्रभावी लक्षण कहकर टाल दिया जाता था। वैज्ञानिकों के अथक परिश्रम से एकत्रित हुए शोध के आँकड़ों के परिणामस्वरूप सामान्य से भिन्न व्यक्तित्व वाले सदस्यों पर अध्ययन 'प्राणि-व्यवहार' में नए अध्याय के

रूप में विकसित हुआ है। कई बार अप्रभावशाली लक्षण वाले सदस्य भी अगली पीढ़ी में अपने जीन सफलतापूर्वक पहुँचाने में सफल हो जाते हैं।

- **बेट्टा मछलियाँ**

मैंने अनेक प्रकार की मछलियाँ पाली हैं और फुर्सत से कई घण्टे उन्हें निहारने में भी बिताए हैं। उन्हीं में से एक थी सिआमीज़ फाइटिंग फिश (siamese fighting fish)। इस बेहद आकर्षक पंखों वाली मछली को, सजावटी मछली बेचने वाले दुकानदार 'बेट्टा' कहते हैं। इनका वैज्ञानिक नाम *बेट्टा स्प्लेनडेन्स* है। इनको दुकानों में प्रायः छोटी-सी बॉटल में अकेले देखा जा सकता है – बेहद खूबसूरत बेट्टा नर को भी। इनके प्राकृतिक निवास थाईलैंड (पुराना नाम स्याम) और दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य पड़ोसी देश भी हैं। 19वीं सदी में स्याम में बेट्टा मछलियों की लड़ाई देखना एक लोकप्रिय शौक हुआ करता था। सम्राट एवं प्रमुख अधिकारी मछलियों को पालकर आक्रामक नर बेट्टा का युद्ध देखते थे। जंगली बेट्टा आम तौर पर जैतूनी या भूरे रंग की होती है। वयस्क होते नर की त्वचा पर यौनाकर्षक या आक्रामता के परिचायक गहरे चमकदार रंग बनना प्रारम्भ हो जाते हैं। जब ये मछलियाँ प्रसिद्धि पाकर यूरोप एवं अमेरिका पहुँचीं तो मछली प्रजनकों ने चयनात्मक प्रजनन करवाकर बेट्टा में गहरे लाल से पेस्टल नीले रंग एवं झबरीले पंख-पूँछ विकसित कर लिए। प्राकृतिक निवास में प्रायः पानी की कमी के कारण इनमें गलफड़ों के पीछे अतिरिक्त श्वसन अंग भी विकसित हो गए हैं। इन अंगों की सहायता से बेट्टा मछली कम ऑक्सीजन में भी

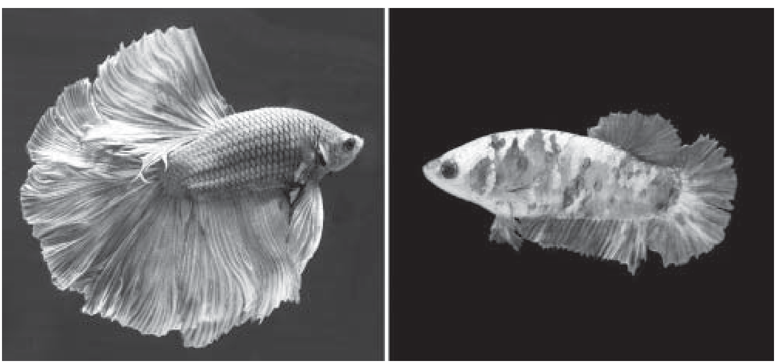

चित्र-1: *नर बेट्टा (बाएँ) को लम्बे पंखों, बड़े फ्रेम और अधिक चमकीले रंग के शरीर से पहचाना जाता है। वे अन्य नर बेट्टा के प्रति आक्रामक भी होते हैं। वहीं मादा बेट्टा (दाएँ) आकार में छोटी और बहुत कम आक्रामक होती हैं।*

सेहतमन्द रह सकती है। वह पानी की सतह से ऊपर आकर, हवा में भी श्वसन कर लेती है। प्रायः बेट्टा की इन आदतों के कारण अक्सर इन्हें छोटे बरतनों में भी पाला जाता है जो उचित नहीं है। आम तौर पर बेट्टा नर अकेले रहकर इलाके बनाते हैं। उस इलाके में अन्य नरों को फटकने भी नहीं देते। एक नर का इलाका तकरीबन 2.5 गेलन पानी के स्थान जितना होता है। शौक के लिए बेट्टा नरों की लड़ाई करवाने वाले लोग, बड़े शरीर और कड़े शल्क वाले नरों को चुनते हैं। छोटे पंख के नरों का प्रजनन के लिए उपयोग करते हैं।

बुलबुलों से घोंसले: नर बेट्टा पानी की सतह के ऊपर से हवा खींचकर मुँह के अन्दर म्यूकस के छोटे-छोटे गुब्बारे बनाते हैं। अनेक गुब्बारों से बबल नेस्ट का निर्माण होता है। बबल नेस्ट बनाना बेहद धीमा तथा थकाने वाला कार्य होता है। बबल नेस्ट के निर्माण के साथ ही, इलाके की रक्षा करने में भी नर बेट्टा कभी पीछे नहीं हटते। दो बेट्टा नरों की लड़ाई में कई बार कमज़ोर नर मर भी जाते हैं। नरों की आक्रामक लड़ाई में हारने वाला नर विनम्र व्यवहार एवं फीके रंगों वाले पंखों से अपने को पराजित घोषित कर देता है। चुपचाप तमाशा देखती और जासूसी कर रही मादा बेट्टा अब विजेता नर के साथ हो जाती है।

जब बबल नेस्ट का निर्माण पूर्ण हो जाता है तो नर गलफड़ों को रंगीन बनाकर और पंख फैलाकर मादा को आकर्षित करता है। मादा भी जब तैयार हो जाए तो शरीर को काला या गहरे रंग का बनाकर अपनी इच्छा ज़ाहिर कर देती है और नर की ओर तैरकर पहुँच जाती है। नर एवं मादा पास आकर तैरते हैं। प्रणय प्रदर्शन के लिए नर अक्सर मादा को काटता है एवं पंख से मादा को सहलाता है। इस दौरान मादा के कुछ शल्क (स्केल) भी निकल जाते हैं और पंख भी ज़ख्मी हो सकते हैं। नरों की आपसी लड़ाई के दौरान वे एक-दूसरे के पंखों को काटकर प्रतिद्वन्द्वी को तैराकी में नाकाबिल बना देते हैं। हारा हुआ नर अब ऐसी मादा को खोजने में जुट जाता है जिसने नरों की लड़ाई नहीं देखी हो। ऐसी कुँवारी अनुभवहीन मादा कमतर स्तर के नर के साथ जोड़ा बना लेती है।

व्यवहार के आधार पर बेट्टा नर तीन प्रकार के हो सकते हैं। तीनों प्रकार का वर्गीकरण तब समझ में आता है जब किसी नर बेट्टा के सामने एक नर-मादा का जोड़ा आ जाए। मादा की उपस्थिति में एक और नर को देखकर भड़क उठने तथा आक्रामक हो जाने वाले नर 'लड़ाकू' कहलाते हैं। कुछ दूसरे प्रकार के नर, नर-मादा के जोड़े को अपने सामने पाकर नर पर ध्यान न देकर, स्वयं भी उस मादा से इश्क लड़ाने लगते हैं। ऐसे नरों को 'प्रेमी' कहा जाता है।

तीसरे प्रकार के नर का व्यवहार नर-मादा जोड़े के प्रति मिश्रित होता है। कुछ लड़ाकूपन और कुछ आशिकाना। ये 'डिवाइडर' कहलाते हैं।

इन तीन प्रकार के नरों में से मादा किसे पसन्द करती है, इस पर वैज्ञानिकों ने शोध किया। बेट्टा मादा की पसन्द पर शोध के परिणाम अलग-अलग रहे। जंगली प्रकार की मादाएँ ऐसे नरों को पसन्द करती हैं जिनके घोंसले बड़े बबल से बने हुए हों। वे नर के बड़े आकार से प्रभावित नहीं होती हैं। जबकि पालतू मादाएँ बड़े आकार के नरों को पसन्द करती हैं। परन्तु यदि आकार एक-समान हो तो वे तीनों प्रकार में से किसे चुनेंगी? वे लड़ाकू और डिवाइडर की बजाय प्रेमी नर से जोड़ा बनाना पसन्द करती हैं। ऐसा इसलिए क्योंकि लड़ाकू नर प्रायः प्रेमालाप के दौरान भी मादा को गम्भीर शारीरिक नुकसान पहुँचा सकते हैं।

• जापानी क्वेल

इसी प्रकार जापानी पक्षी क्वेल (बटेर) की मादाएँ कम आक्रामक नरों का चयन करती हैं जो मादा को पाने की होड़ में अपने से बड़े आकार के नरों से परास्त हो गए हों। ऐसे निर्बल नर दबंग और आतंकी नरों के समान साधन-सम्पन्न तो नहीं होते परन्तु मादा की पहली पसन्द बन जाते हैं। हिन्दी फिल्मों के दुष्ट खलनायकों के समान ही जापानी नर बटेर भी प्रेमालाप के दौरान मादा के पीछे पड़कर, मादा को लगातार तकलीफ देते हैं। नर मादा क्वेल के शरीर और सिर पर लगातार चोंच मारते हैं, परों को चोंच से पकड़कर मादा को घसीटते हैं और यहाँ भी आतंक खत्म नहीं होता है। वे बार-बार मादा की पीठ पर कूदते भी हैं। ऐसे अति-आक्रामक नरों से अगर मादा दूरी बनाए तो आश्चर्य नहीं होगा क्योंकि दबंग के इलाके के बाहर एक बेबस प्रेमी नर, उसका इन्तज़ार करता रहता है।

चित्र-2: मादा जापानी क्वेल।

• कोहो सैल्मन

'व्यक्तित्व' को समझने के लिए वयस्क नर कोहो सैल्मन (coho salmon) एक उत्तम उदाहरण पेश करती है। ये वे मछलियाँ हैं जो लम्बी दूरी तक प्रवास करती हैं। ये एनाड्रोमस (anadromous) कहलाती हैं क्योंकि वयस्क मछली समुद्रों में

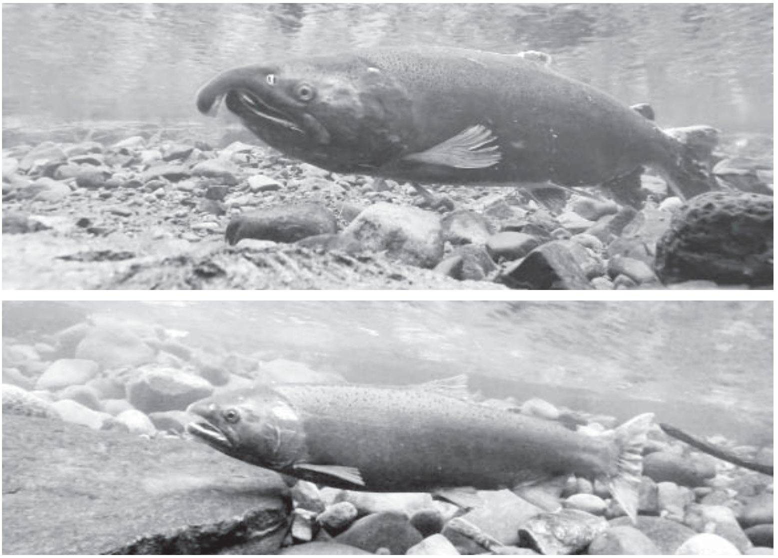

चित्र-3: (ऊपर) हुक नोज़ नर कोहो सैल्मन, (नीचे) मादा कोहो सैल्मन। ये एनाड्रोमस मछली हैं, अर्थात् ताज़े और खारे पानी, दोनों में रहती हैं। हुक नोज़ नर के जबड़े का अगला सिरा नीचे मुड़कर हुक जैसा हो जाता है जिसमें नुकीले दाँत होते हैं। ये व्यवहार में आक्रामक व क्रोधी होते हैं।

रहती हैं लेकिन अण्डे देने के लिए मीठे पानी की नदियों की ओर प्रवास करती हैं। कोहो सैल्मन के नर दो भिन्न शारीरिक संरचना और व्यक्तित्व वाले होते हैं। एक को 'जेक्स' कहते हैं और दूसरे को 'हुक नोज़'। जेक्स कहे जाने वाले नर आकार में छोटे, 30-40 से.मी. लम्बे होते हैं। अपने से बड़े नर, हुक नोज़ के इलाकों से घबराकर ये डरपोक नर, निर्जन स्थानों पर चुपके-चुपके इश्क लड़ाने में विश्वास करते हैं। बड़े आकार के नर हुक नोज़ समुद्र से मीठे जल तक पहुँचने के बाद सिर की तरफ से काले तथा बाकी शरीर से मरून या बरगंडी रंग के हो जाते हैं। जबड़े का अगला सिरा नीचे मुड़कर हुक जैसा दिखने लगता है जिसमें नुकीले दाँत होते हैं।

हुक नोज़ नर व्यवहार में आक्रामक व क्रोधी होते हैं तथा मादा पर बलपूर्वक तथा ज़बरदस्ती एकाधिकार जमाते हैं। अण्डों को निषेचित करते हुए हुक नोज़ नर के इलाके में यदि जेक्स आ जाते हैं तो वे मारे जाते हैं। मांसल शरीर एवं मर्दानगी भरी अदा वाले हुक नोज़ नर मादाओं की पहली पसन्द नहीं होते। मादाएँ मौका पाकर

जेक्स के साथ हो लेती हैं। वैज्ञानिकों ने देखा है कि जेक्स के साथ अण्डों को निषेचित करने के लिए वे मैथुन के दौरान ज़्यादा समय भी देती हैं।

* * *

उपरोक्त उदाहरणों से आपको शायद ऐसा लगे कि जन्तुओं का व्यक्तित्व आक्रामक या डरपोक प्रकार का ही होता है, किन्तु उनके व्यक्तित्व अनेक प्रकार के हो सकते हैं और व्यवहार में बहुत विविधताएँ होती हैं। प्रत्येक प्राणी के मिजाज़ और लुभा लेने की योग्यता को सख्त एवं कमज़ोर की ही श्रेणी में रखना न्यायसंगत नहीं होगा।

चित्र-4: *नर ज़ेब्रा फिंच (बाएँ) व मादा ज़ेब्रा फिंच (दाएँ)। शोध के अनुसार, मादा ज़ेब्रा फिंच नर पक्षियों के गीतों में ऐसे संकेत पहचान लेती हैं जो मानव कान के लिए समझ पाना अत्यन्त कठिन है।*

• ज़ेब्रा फिंच और ग्रेट टिट

मध्य ऑस्ट्रेलिया में पाई जाने वाली, भारतीय गौरैया के आकार के बराबर की चिड़िया ज़ेब्रा फिंच *(टेनियोपीजिया गुट्टाटा)* जोड़ा बनाने के लिए ऐसे साथी को तलाशती है जो ज़्यादा खोजी और घुमक्कड़ प्रकार का हो।

पूरे यूरोप तथा मध्य-पश्चिम एशिया व भारत के पहाड़ी घने जंगलों में पाई जाने वाली चिड़िया ग्रेट टिट बिलकुल ऐसा ही व्यवहार प्रदर्शित करती है। इनका वैज्ञानिक नाम *पेरस मेजर* है। बेतहाशा जंगल कटने और जलवायु परिवर्तन से इनके आशियाने भी तबाह हुए हैं और इनकी आबादी पिछले 10 वर्षों में 30 प्रतिशत तक गिरी है। ग्रेट टिट सामाजिक रूप से मोनोगेमस होती हैं अर्थात् नर एवं मादा टिट निष्ठावान जोड़ा बनाकर केवल आपस में ही सम्भोग करते हैं। फिर सन्तानोत्पत्ति के पहले और बाद में सम्मिलित रूप से बच्चों की परवरिश करते हैं। मतलब बायपेरेण्टल होते हैं। अण्डों और बच्चों की देखरेख वंशवृद्धि के लिए महत्वपूर्ण मुद्दा है। इसलिए मादा टिट प्रायः नरों का चुनाव करते समय गम्भीरता से उन्हें परखती है। मादा फिंच और नर ग्रेट टिट जो स्वयं खोजी प्रवृत्ति वाले होते हैं, वे वैसे ही साथी का चयन करते हैं।

चित्र-5: मादा ग्रेट टिट। ये पक्षी मोनोगेमस होते हैं जो आम तौर पर एक जोड़ी में रहते हैं और दोनों माता-पिता मिलकर बच्चों का पालन-पोषण करते हैं।

• मादा मकड़ियाँ

एरिनिडी फैमिली तथा *लारिनीओइड्स* जीनस की मकड़ियों (इन्हें ब्रिज मकड़ियाँ भी कहते हैं) में आक्रामक नर अधिक आक्रामक मादा से ही जोड़ा बनाते हैं और डरपोक नर डरपोक मादा से।

बेतरतीब जाले बनाने वाली मकड़ी *एनीलोसिमस स्टूडियोसस* के आक्रामक नर डरपोक नरों को आसानी-से पराजित कर देते हैं। ऐसे आक्रामक नर जब आक्रामक मादा से मैथुन करने जाते हैं तो मैथुन के पूर्व ही प्रायः मादा के शिकार बन जाते हैं। स्वजाति भक्षण करके मादा आने वाली अन-आक्रामक पीढ़ी को उत्पन्न करने की बेहतर सम्भावनाएँ प्रदान करती है, जबकि डरपोक नर आक्रामक मादा से चुपचाप बगैर विघ्न डाले और मादा को बिना गुस्सा दिलाए, मैथुन करके चले जाते हैं। परन्तु जब आक्रामक नरों का सामना डरपोक मादा से होता है तो डरा-धमकाकर वे मैथुन में अधिक सफल होते हैं। इस प्रकार विपरीत यौन व्यवहार के बावजूद वे फलती-फूलती रहती हैं।

चित्र-6: मादा एनीलोसिमस स्टूडियोसस।

• मादा ओरंगुटान

ओरंगुटान पेड़ पर रहने वाले सबसे बड़े स्तनधारी होते हैं। इनकी तीन प्रजातियाँ इंडोनेशिया और मलेशिया के आसपास के जंगलों में पाई जाती हैं। जंगलों की असीमित कटाई से इनकी सभी प्रजातियाँ खतरे में हैं। ओरंगुटान नर एवं मादा में लैंगिक द्विरूपता बेहद साफ दिखती है। पूरी तरह से विकसित नर ओरंगुटान मादाओं की तुलना में दुगने आकार के होते हैं। वयस्क नर दो प्रकार के होते हैं। एक तो वो जिनमें गद्दीदार गाल के उभार

चित्र-7: नर व मादा ओरंगुटान में लैंगिक द्विरूपता बेहद साफ दिखती है। वयस्क नर दो प्रकार के होते हैं। एक तो वो जिनमें गद्दीदार गाल के उभार 'फेलेंजेस' (phalanges) होते हैं और उनमें लम्बी और तीखी आवाज़ निकालने की क्षमता होती है। दूसरे वो जिनमें फेलेंजेस नहीं होते और लम्बी आवाज़ निकालने की क्षमता का भी अभाव होता है किन्तु वे लैंगिक रूप से सक्रिय, सन्तानोत्पत्ति कर सकने वाले तथा पिता के कर्तव्य निभाने वाले होते हैं।

'फेलेंजेस' (phalanges) होते हैं और उनमें लम्बी और तीखी आवाज़ निकालने की क्षमता होती है। दूसरे वो जिनमें फेलेंजेस नहीं होते और लम्बी आवाज़ निकालने की क्षमता का भी अभाव होता है किन्तु वे लैंगिक रूप से सक्रिय, सन्तानोत्पत्ति कर सकने वाले तथा पिता के कर्तव्य निभाने वाले होते हैं।

कई बार नरों के बीच परस्पर संघर्ष होता है। मादा से भी हिंसात्मक ज़बरदस्ती होती है। मादा की पसन्द के कारण दो हमउम्र नर शिशुओं के पालन-पोषण में भी भेदभाव होता है। इससे उनका लैंगिक विकास और वयस्क होने की अवधि प्रभावित होती है। कुछ नर 30 वर्ष की उम्र में पूरी तरह से वयस्क होते हैं और कुछ नर इससे पहले ही वयस्क हो जाते हैं। वे नर जो जल्दी वयस्क हो जाते हैं, वे वयस्क मादाओं से बेहद ज़बरदस्ती करते हैं और आक्रामक हो जाते हैं। ऐसी कठिन परिस्थितियों में मादा यदि प्रेमालाप में पड़ने के पूर्व नरों के व्यवहार को समझ जाती है तो समागम से बच जाती है। मादा प्रायः प्रभावी नर से मधुर सम्बन्ध बनाने की कोशिश में कुछ तरीके अपनाती है जैसे भोजन को उपहार स्वरूप देना एवं स्वीकार करना। वह धीरे-से नर के हाथों से या मुँह से भोजन छीन लेती है और नर की प्रतिक्रिया देखती है। उसकी शान्त प्रतिक्रिया योग्य नर के चुनाव में महत्वपूर्ण होती है। मादा नर से भोजन की उन सामग्री को छीनती है जो आसपास सुलभता से उपलब्ध रहती है। जैसे, पेड़ों की कोमल पत्तियाँ या बहुतायत में उपलब्ध फल आदि। इसमें भोजन को प्राप्त करना महत्वपूर्ण नहीं है। भोजन

का लेन-देन नर के व्यवहार की परीक्षा करने का एक आसान तरीका है। प्रत्येक नर की प्रतिक्रिया भिन्न होती है। कुछ गुस्से में भोजन वापस छीन लेते हैं, तो कुछ सहनशील बने रहते हैं। अन्त में, मादा उनके व्यवहार को समझकर यौन साथी का चयन करती है। अपने साथी के चयन के लिए मादा का ऐसा परीक्षण उनकी आश्चर्यजनक विश्लेषणात्मक बुद्धिमानी का द्योतक है!

हमने मादा के साथ ज़बरदस्ती करने वाले अनेक उदाहरण देखे हैं जिनमें ताकतवर नर कई बार सेक्स करने में सफल हो जाते हैं। परन्तु अनेक प्रजातियों की मादाओं ने अपनी कुछ रणनीतियों से नर के आक्रामक व्यवहार से बचने के तरीके भी निकाल लिए हैं।

पसन्द को गुमराह करने वाले कारक

सेक्स के लिए जोड़ीदार का चयन अधिकतर शारीरिक और व्यवहारिक स्थिति को समझने के बाद ही होता है। परन्तु पर्यावरण के अनेक कारक निर्णय को गड़बड़ा और गुमराह कर सकते हैं और चयनित जोड़ीदार को परखने में उलझा सकते हैं। एक निश्चित स्थिति में जो चीज़ हमें अच्छी लगती है, सम्भव है कि परिवर्तित परिस्थिति में वह खराब लगने लगे। इसे 'प्लास्टिसिटी' कहते हैं।

पारिस्थितिकी या जैविक कारकों या दोनों में परिवर्तन के कारण जन्तुओं के यौन-व्यवहार या कार्यिकी में होने वाले परिवर्तन को प्लास्टिसिटी कहते हैं। मतलब यह है कि वातावरण के कारक भी पसन्दीदा साथी को खोजने के लिए महत्वपूर्ण होते हैं। प्रजनन के लिए भेजे गए सन्देश भी तभी काम के रहते हैं जब परिवेश की परिस्थितियाँ अनुकूल हों।

नर फिडलर क्रैब (केकड़ा) में यौन द्विरूपता होती है। नर के सामने वाले पंजों में से एक पंजा आकार में बड़ा होता है तथा दूसरा छोटा। जबकि मादा के दोनों पंजे छोटे होते हैं। नर छोटे पंजे का उपयोग भोजन ग्रहण करने के लिए करता है। बड़े पंजे को हवा में हिलाकर-लहराकर मादाओं को रिझाता है। यह नर का यौन चयनित लक्षण है। अन्य नरों को यह डराता है तथा नरों से युद्ध होने पर बड़े पंजे को हथियार की तरह इस्तेमाल भी करता है। ये केकड़े

चित्र-8: नर फिडलर क्रैब। इनमें यौन द्विरूपता होती है। नर के सामने वाले पंजों में से एक पंजा आकार में बड़ा होता है तथा दूसरा छोटा। नर बड़े पंजे को हवा में हिलाकर-लहराकर मादाओं को रिझाता है।

समतल एवं सपाट कीचड़ के खुले स्थानों में रहते हैं। जहाँ दूर तक कोई भी ज़मीनी उभार या टीला नहीं होता है। केकड़ों की दृष्टि भी इसी प्रकार के मैदानी हालातों के लिए अभ्यस्त होती है। जब वैज्ञानिकों ने नियंत्रित वातावरण में इन केकड़ों पर प्रयोग किया तो पाया कि मादा नरों में बड़े पंजों की मौजूदगी और उन्हें तेज़ी-से लहराने की अदा को पसन्द करती है।

अब समझें कि किस प्रकार परिवेश में परिवर्तन से मादा नर से दूरी बना लेती है। नर कीचड़ खोदकर गहरे बिल बनाते हैं और बिल बनाते समय निकली हुई मिट्टी से छोटे-छोटे टीले बन जाते हैं। कुछ नर उन केवल दो सेमी ऊँचे टीले पर खड़े होकर मादा को पंजा हिलाकर सेक्स के लिए पटाने की कोशिश करते हैं किन्तु मादा उन्हें पसन्द नहीं करती। फिर चाहे नर का पंजा बड़ा हो या इशारा तेज़ी-से लहराकर किया जा रहा हो। निष्कर्ष यह है कि मादा स्वयं की ऊँचाई के बराबर के इशारों का जवाब ही देती है। मादा के इस निर्णय से शारीरिक रूप से सम्पन्न नर भी अपनी प्रेमिका को नहीं पा सकते।

प्रश्न यह उठता है कि अगर ऐसे नरों को प्रेमिकाएँ नहीं मिलती हैं तो वे ऊँचाई पर खड़े होते ही क्यों हैं? शायद इसका कारण यह है कि टीलों पर खड़े नर शिकारियों को बड़े दिखते हैं तो वे उन पर हमला नहीं करते या वे ऊँचाई से खतरा पहले ही भाँप लेते हैं। यह उनका सुरक्षा का उपाय है। मादा के दृष्टिकोण से देखें तो समतल भूमि या ज़्यादा गहरे बिल सम्भवतः प्रेमिका को ज़्यादा आरामदायक लगते हों। किन्तु देर-सबेर ऐसे नापसन्द नरों को भी सेक्स का अवसर मिलता है और आनुवांशिक विभिन्नताएँ बनी रहती हैं। किन्तु वे यौन प्राथमिकता तो खो ही देते हैं। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि मात्र दो सेमी ऊँचाई से ही मादा के यौन व्यवहार में कैसा प्रतिकूल परिवर्तन होता है।

कई उदाहरणों को देखकर अब कुछ-कुछ अन्दाज़ तो लग ही गया कि चाहे इन्सान हों या अन्य जीव, मादाएँ आखिर अपने पार्टनर नर में क्या-क्या देखती हैं।

विपुल कीर्ति शर्मा: शासकीय होल्कर विज्ञान महाविद्यालय, इन्दौर में प्राणिशास्त्र के वरिष्ठ प्रोफेसर हैं। इन्होंने ‘बाघ बेड्स’ के जीवाश्मों का गहन अध्ययन किया है तथा जीवाश्मित सीअर्चिन की एक नई प्रजाति की खोज की है। नेचुरल म्यूज़ियम, लंदन ने सम्मान में इस प्रजाति का नाम उनके नाम पर *स्टीरियोसिडेरिस कीर्ति* रखा है। वर्तमान में, वे अपने विद्यार्थियों के साथ मकड़ियों पर शोध कार्य कर रहे हैं।

ईशांगो बोन

आमोद कारखानीस

डॉक्टर गोखले के साथ किसी ऐतिहासिक स्थान को देखना, मेरे जैसे नौसिखिये के लिए किसी उत्सव से कम नहीं है। एक तो वे रिसर्चर हैं, दूसरा, वे जितनी सूक्ष्मता से चीज़ों को देखते-परखते हैं, वो हमारे जैसे लोगों को दिखती भी नहीं हैं। ऐसे सूक्ष्म अवलोकनों को वे न सिर्फ देखते हैं बल्कि उतने ही उत्साह के साथ अन्य लोगों को भी दिखाते और बताते हैं और सोचने पर मजबूर कर देते हैं। यह उनकी एक खासियत है।

अभी हाल ही की बात है। मैं और डॉ. गोखले एक गुफा को देखकर लौट रहे थे। यह गुफा किसी समय आदिमानवों की रिहाइश हुआ करती थी। इस गुफा के पास पड़े एक छोटे-से पत्थर को उठाते हुए गोखले ने मुझसे पूछा, “इस पत्थर को देखकर तुम इसके बारे में क्या सोचते हो?”

उस पत्थर को हाथ में लेकर मैंने गौर से देखा, कुछ सफेद-सा, थोड़ा लम्बा-सा, किसी मुलायम-से पत्थर का टुकड़ा ही कहना चाहिए। अब इसमें क्या खास कहा जाए। ऐसा ही कुछ मैं सोच रहा था तभी गोखले ने कहना शुरू किया। “अभी हमने जो गुफा देखी थी, उसमें पत्थर कैसा दिखाई दिया था?”

मैंने कहा, “थोड़ा लाल-चॉकलेटी रंग का पत्थर था। यदि भूविज्ञान की भाषा में कहूँ तो अवसादी यानी सेडिमेंटरी चट्टान होगी।”

उन्होंने कहा, “अच्छा। तो अब हाथ में जो पत्थर है, उसे फिर से देखो। क्या यह गुफा के पत्थर का टुकड़ा हो सकता है?”

मेरे मुँह से बरबस निकल पड़ा, “ये पत्थर का टुकड़ा तो गुफा के पत्थर से अलग रंग और अलग तरह का है।”

मेरे चेहरे पर जो अचरज का भाव था, उसे पढ़ते हुए गोखले ने कहना जारी रखा, “यह पत्थर का टुकड़ा इस गुफा का नहीं है। मेरे खयाल से, ये पत्थर के टुकड़े यहाँ के न भी हुए तो, यहाँ से 15-20 मील दूर बहने वाली नदी में ऐसे पत्थर ज़रूर मिलते होंगे। इन्हें फ्लिंट स्टोन कहा जाता है। अब अगला सवाल यह है कि इतनी दूर से इन पत्थरों को यहाँ लाने का उद्देश्य क्या होगा, यहाँ तक कैसे लाए गए होंगे?”

मैंने कुछ पल सोचा फिर कहा, “जो भी इन टुकड़ों को यहाँ लाए होंगे, उन्हें यकीनी तौर पर इन टुकड़ों का कोई इस्तेमाल करना होगा। हो सकता है, इन पत्थरों के

गुणधर्म में ऐसा कुछ खास होगा जिसे इन्सान अपने लिए उपयोग कर पाता था।"

गोखले थोड़े उत्साहित होकर बोले, "तुमने सही कहा। नदी के पास से लाया गया यह पत्थर गुफा के पत्थर के मुकाबले थोड़ा मुलायम और नरम है। और इस पत्थर पर चोट करने पर छिलकेनुमा लम्बे और पतले टुकड़े निकलते हैं। अब तुम उस पत्थर को जो तुम्हारे हाथ में है, ध्यान-से देखो। वो इसी तरह टूटा हुआ है। इस पर चोट करते समय भी तिरछी चोट की गई है। अब तुम सोच सकते हो कि यह टुकड़ा जिस पत्थर का है, वो पत्थर कैसा होगा। अभी तुम्हारे हाथ में जो टुकड़ा है, वो मूल पत्थर का चोट के बाद टूटा हुआ टुकड़ा या बचा हुआ हिस्सा होगा।"

उपकरणों की झलक

अब मैंने अपने हाथ में पकड़े पत्थर के छोटे-से टुकड़े या छीलन को कौतुहल के साथ देखा। इसे देखते हुए मैं सोचता जा रहा था कि इस तरह के पत्थर के हथियारों की कितनी धार बनाई जा सकती है और वो कितने समय तक बनी रह सकती है। जानवरों के शिकार या चमड़े को छीलने जैसे काम कितने मुश्किल

पाषाण युग के प्रारम्भिक हथियार

एक समय ऐसा भी था जब इन्सान हथियारों के लिए पत्थरों का इस्तेमाल करने लगा था। उस दौर में इन्सान ने पत्थरों के दोनों सिरों पर तिरछी चोट मारकर, किनारों को धारदार बनाना शुरू किया था। फिर इस धारदार पत्थर का इस्तेमाल लकड़ी पर भाले की नोक के रूप में किया जाने लगा। या चमड़ा छीलने व काटने वाले चाकू के रूप में किया जाने लगा होगा। इन हथियारों को ही हम पाषाण युगीन औज़ार कहते हैं। पुरातात्विक उत्खनन के दौरान और आदिमानवों की गुफा में भी ऐसे काफी सारे औज़ार एवं हथियार मिलते हैं।

चित्र-1: चट्टानों के यांत्रिक गुणों की जाँच से पता चलता है कि पाषाण युग के मानव ने अपने पत्थर के औज़ारों के आकार और निर्माण तकनीकों के अनुसार पत्थरों में बदलाव किए थे।

होते होंगे। और-तो-और मरे हुए जानवर के मांस के टुकड़े करना जैसा काम भी कितना कष्टप्रद होता होगा न!

गोखले भी यही बता रहे थे कि "उस दौर में शिकार किए गए प्राणी के पकाने लायक व खाने के लिए अलग-अलग टुकड़े करना आसान काम न था। इसके लिए प्राणी को हड्डियों के जोड़ों से काटा जाता था। या उसके मांस को पथरीली सतह पर किसी पत्थर के हथियार से रगड़कर या कुचलकर टुकड़े किए जाते थे।"

अब मेरी उत्सुकता भी चरम पर थी। मैंने पूछा, "आप जो बता रहे हैं, इसके लिए कुछ साक्ष्य मिले हैं या ये बातें केवल अन्दाज़ों पर आधारित हैं?"

गोखले ने बताया, "जहाँ पाषाण युगीन इन्सानों के अवशेष या जीवाश्म मिले हैं, वहाँ प्राणियों की हड्डियाँ या जीवाश्म भी मिले हैं। इनकी मदद से हम पाषाण युगीन इन्सान के खानपान की आदतों के बारे में कुछ अन्दाज़ लगा सकते हैं। इन हड्डियों पर पत्थर के चाकू से बने निशान भी हम आसानी-से देख सकते हैं।

हड्डी पर अंकित गणना

गोखलेजी बता रहे थे, "केवल खरोंच के चिन्ह ही नहीं, ऐसी हड्डियाँ भी हमें कई सारी बातों के बारे में बता सकती हैं। उदाहरण के लिए, सन् 1970 में पीटर बेऊमोन्ट (Peter Beaumont) दक्षिण अफ्रिका की एक गुफा में कुछ उत्खनन कर रहे थे, जिसके दौरान उन्हें प्राणियों की हड्डियों के अवशेष मिले थे। इन हड्डियों का अवलोकन करते हुए, ये हड्डियाँ जीव के किस हिस्से की हो सकती हैं, और ऐसी अन्य जानकारियाँ दर्ज करते हुए एक रिसर्चर को एक हड्डी पर घिसकर बनाए गए कुछ निशान दिखाई दिए।

वैसे तो रिसर्चर उस हड्डी को वर्गीकृत करके उसे सम्बन्धित समूह में रख देता लेकिन उसे ये निशान सामान्य खरोंच जैसे निशान प्रतीत नहीं हो रहे थे। ये निशान कुछ फर्क हैं, यह सोचकर उसने उस हड्डी को अलग से रखा। ये निशान शायद किसी वजह से जान-बूझकर बनाए गए होंगे। यदि मांस को काटते समय ये निशान बने होते तो इन निशानों के बीच का फासला कुछ भी हो सकता था, निशान सरल रेखीय और लगभग समान दूरी पर न बने होते।

"तो, फिर इन निशानों के पीछे क्या राज़ छुपा हुआ होगा? क्यों बनाए गए होंगे ऐसे निशान?" मैंने पूछा।

आजकल कार्बन डेटिंग और अन्य आधुनिक तरीकों से इसका सटीक अनुमान लगा पाना सम्भव हो पाता है कि गुफा में पाए गए सामान, औज़ार आदि कितने पुराने हैं। ऐसे ही शोध आधारित सटीक अनुमानों से यह

पता चला कि यह हड्डी लगभग 43 हज़ार साल पुरानी है। इससे यह समझ आया कि यह समय तो धरती पर मानव इतिहास का शुरुआती समय था। यह जानकारी इतिहासकारों के लिए जितनी महत्वपूर्ण थी, उतनी ही गणित से प्रेम करने वाले मेरे जैसे लोगों के लिए भी अहम थी, क्योंकि यह इन्सान के नापने की क्षमता का पहला सबूत था। पहली बार गणित में कुछ लिखा हुआ। ऐसा माना जा सकता है कि मानव के गणित के इतिहास में गणित लेखन की शुरुआत हो गई थी।

अपनी बात आगे बढ़ाते हुए डॉ. गोखले बोले, "वैसे देखा जाए तो पुरातत्वविद और जासूस, इन दोनों में एक समानता है, कि किसी घट चुकी घटना के बारे में बताने के लिए कोई भी मौजूद नहीं होता, सिर्फ कुछ सुराग या सबूत पाए जाते हैं। और इन सबूतों के आधार पर अन्दाज़ा लगाना होता है। हालाँकि, तकनीकी तरक्की की वजह से अन्दाज़ा लगाने के लिए कुछ ठोस आधार ज़रूर मौजूद होते हैं।"

अपनी बात समझाने के लिए उन्होंने उदाहरण भी दिया। अब हम दक्षिण अफ्रीका के लेबोम्बो पहाड़ की एक गुफा में मिली उस हड्डी की बात कर रह थे। उन्होंने बताया कि हमें कार्बन डेटिंग से यह तो पता चला कि वो हड्डी 43 हज़ार साल पुरानी है। उस समय तक इन्सान भटकते हुए शिकार करने वाला इन्सान नहीं था। वो किसी जगह टिककर रहने लगा था। हड्डी पर बने निशानों को देखें तो पता चलता है कि ये निशान किसी खास वजह से बनाए गए होंगे। हड्डी पर 29

चित्र-2: *(बाएँ) लेबोम्बो गुफा। (दाएँ) दक्षिण अफ्रीका के लेबोम्बो पहाड़ की गुफा में मिली हड्डी। कार्बन डेटिंग के मुताबिक यह हड्डी 43 हज़ार साल पुरानी होगी और इस हड्डी पर 29 निशान पाए गए।*

निशान बने थे। ये किस लिए बनाए गए होंगे और क्या 29 के अंक की कोई अहमियत रही होगी?

यहाँ सही मायने में तकनीक से काफी मदद मिली। हड्डी पर खाँचों को जब सूक्ष्मदर्शी से देखा गया तो समझ आया कि भले ही देखने में ऐसा प्रतीत होता हो कि सभी निशान एकजैसे हैं, लेकिन ऐसा था नहीं। सभी खाँचों का आकार और गहराई थोड़ी फर्क है। इस अवलोकन से एक अन्दाज़ लगाया गया कि हो सकता है कि खाँचों को अलग-अलग औज़ारों से बनाया गया हो और यह काम अलग-अलग समय पर किया गया हो। तो, क्या यह कह सकते हैं कि इन निशानों का सम्बन्ध कुछ गिनने से होगा, क्या गिना गया होगा? क्या बार-बार घटित होने वाली किसी घटना की समयावधि को दर्ज किया गया होगा? और अधिक गौर से देखने पर ऐसा प्रतीत हुआ कि ये निशान बार-बार लगाए गए हैं। यानी 29 दिन का चक्र या कालावधि को गिना गया है। हो सकता है कि मासिकधर्म के 29 दिन का चक्र गिनने के लिए किसी महिला द्वारा ये निशान लगाए गए हों। यानी यह इन्सान का पहला कैलेंडर हो सकता है।

ईशांगो की सभ्यता

ज्वालामुखी के उद्गारों से अफ्रीका के ईशांगो नामक गाँव के पास एक बड़ी चट्टान निर्मित हुई। यह चट्टान काफी पुरानी है, यह बात भूवैज्ञानिकों को मालूम थी। लेकिन इस चट्टान का एक हिस्सा कुछ फर्क है, यह भी ध्यान में आया। सन् 1950 में बेल्जियन भूवैज्ञानिक जीन दे हेंसलिन (Jean de Heinzelin de Braucourt) की टीम ने यहाँ उत्खनन की शुरुआत की। तब से लेकर आज तक कम-से-कम पाँच बार अलग-अलग वैज्ञानिकों के दलों ने यहाँ काम किया है। इन सबसे काफी सारे सबूत और जानकारियाँ हाथ लगी हैं।

ईशांगो गाँव युगांडा और कांगो देश की सीमा पर स्थित पर्वत शृंखला के बीच बसा हुआ है। वहाँ पर रुतानज़िगे नाम से एक झील है। आम तौर पर जब हम तालाब या झील कहते हैं तो आँखों के सामने एक छोटी जलराशि होती है। लेकिन ये झील काफी बड़ी है, तकरीबन 80 किलोमीटर लम्बी और 50 किलोमीटर चौड़ी। आज भी इसके आसपास घने जंगल हैं। इस इलाके में अभी भी इन्सानों की बड़ी रिहाइश नहीं है। लेकिन लगभग 25 हज़ार साल पहले, यहाँ इन्सानों का एक समूह निवासरत था। समूह के लोग तालाब से मछली पकड़ते थे, जंगल से फल-कन्द वगैरह बटोरते थे और तालाब के आसपास के समतल इलाके में खेती भी करते थे। इस इलाके में किए गए उत्खनन में आदिमानवों की हड्डियाँ, हथियार, अनाज, अनाज पीसने वाले

पत्थर आदि मिले हैं। हो सकता है, ज्वालामुखी में विस्फोट के बाद ये लोग यहाँ से चले गए हों या मारे गए हों। लेकिन उस समय यह खेती करने वाला विकसित समूह था।

ईशांगो हड्डी: सम्भावित कैलेंडर और गणना प्रणाली

यहाँ हुए उत्खनन में कई खाँचों के निशान वाली विख्यात ईशांगो हड्डी मिली है। इस हड्डी पर तीन-चार पंक्तियों में बनाए गए निशान हमें चित्र में साफ तौर पर दिखाई देते हैं।

पहली पंक्ति में 9, 19, 21, 11 निशान, दूसरी पंक्ति में 19, 17, 13, 11 - इतने निशान बनाए गए हैं। शोधकर्ताओं ने इन निशानों को लेकर कई तरह के विचार व्यक्त किए हैं। कुछ के मुताबिक, ये निशान कुछ गिनने की कोशिश भर है, इसे ज़्यादा अहमियत देने की ज़रूरत नहीं है। कुछ अन्य के मुताबिक, ये निशान काफी सोच-विचार के साथ लगाए गए हैं। कुछ लोगों को इसमें कुछ प्राइम नम्बर दिखते हैं। उनके हिसाब से यह सब गणित के विकास के लक्षण हैं। लेकिन इस विचार के लिए पर्याप्त सबूत नहीं मिल पाए। यदि निशानों की पहली दो पंक्तियों को गौर से देखा जाए तो इन दोनों कतारों के निशान का जोड़ 60 है। 60 का मतलब, क्या दो चन्द्रमास हो सकता है? लेकिन तीसरी कतार के निशान का जोड़ 48 होता है। इसलिए चन्द्रमास तर्क टिक नहीं पाया। बाद में, एक बार फिर सूक्ष्मदर्शी से देखने पर हड्डी पर बेहद धुँधले पड़े कुछ और निशानों और पंक्तियों को भी पाया गया। तो इस तरह से सभी पंक्तियों में 60 निशान पाए गए।

चित्र-3: ईशांगो हड्डी के दोनों तरफ का चित्र। सम्भवतः अब तक का सबसे प्राचीन गणितीय अवशेष, ईशांगो हड्डी, सन् 1950 में युगांडा और कांगो के बीच की पर्वत श्रृंखला में खोजी गई थी। इसे बेल्जियम के मानवविज्ञानी जीन दे हेंसलिन (1920-1998) ने खोजा था और जिस क्षेत्र में यह मिली, उसी के नाम पर इसका नाम 'ईशांगो हड्डी' रखा गया। यह हड्डी सम्भवतः किसी बबून, बड़ी बिल्ली प्रजाति के जानवर, या किसी अन्य बड़े स्तनपायी की पिण्डली की हड्डी थी।

लेकिन यह तो एक अन्दाज़ या विचार ही था।

यदि इसे कैलेंडर भी माना जाए तब भी इस बात पर विचार कर लेना चाहिए कि उस समय के इन्सान को इस तरह के किसी कैलेंडर की क्या ज़रूरत पड़ी होगी। इसके लिए हमें वहाँ के मौसम के बारे में समझना होगा।

अफ्रीका के इस हिस्से में भी भारत की ही तरह विविध मौसम होते हैं। बारिश में जमकर पानी बरसता है, यानी इस समय तालाब भरकर बहने लगते होंगे। इसलिए इस मौसम में सुरक्षित जगह कम होती जाती होगी और बूढ़े लोगों को छोड़ दिया जाए तो काफी सारे लोग पहाड़ की इन गुफाओं में रहने के लिए चले जाते होंगे। ठण्ड की शुरुआत के साथ ये लोग वापस लौटते होंगे। इस मौसम में खेती करना और तालाब पर आने वाले पक्षियों का शिकार करना जैसे काम करते होंगे। गर्मी के मौसम में भी ऐसा ही कुछ करते होंगे।

इन्हीं सबके बीच कौन-से काम को कब किया जाए, इसकी योजना बनाने की ज़रूरत महसूस होने लगी होगी। रोपाई के दिन, सुहावने दिन, अनाज का बेहतर उत्पादन होने पर आनन्द के लिए मनाए जाने वाले उत्सव का दिन। सिर्फ इतना ही नहीं, कौन-से पेड़ पर कब फल आते हैं, इसकी जानकारी भी तो होना चाहिए न। यदि इन सबका ध्यान रखना हो तो मौसम की और मौसम के चक्र की जानकारी भी तो होनी चाहिए। यानी दिन गिनना आना चाहिए। दिन की यह गणना चाँद पर आधारित होती होगी। यानी अमावस्या से पूर्णिमा और पूर्णिमा से अमावस्या - इस समयावधि को गिनना आना चाहिए। इन सब बातों को सोचने के लिए मजबूर करने वाली यह हड्डी, ईशांगो लोगों का कैलेंडर हो सकती है।

ईशांगो की हड्डी पर मिला यह कैलेंडर, वास्तव में किस लिए था, इसका सही अन्दाज़ा लगा पाना हमारे लिए मुश्किल है। लेकिन हम इतना कह सकते हैं कि पाषाण युगीन इन्सान विकास की अगली पायदान पर आ पहुँचा था। इससे आगे के पड़ाव पर इन्सान को बड़ी संख्याओं को गिनने और लिखकर रखने की ज़रूरत महसूस होने लगी थी। केवल सांकेतिक निशान से अब काम चलने वाला नहीं था। उसे गिनने के तरीके और संख्याओं के लिए चिन्हों की ज़रूरत पड़ने वाली थी। इन्सान के इतिहास के इस पड़ाव पर अब गणित ने विकास की राह पकड़ ली थी।

आमोद कारखानीस: पेशे से कम्प्यूटर इंजीनियर। लेखन एवं चित्रकारी का शौक। मुम्बई में रहते हैं।

मराठी से अनुवाद: माधव केलकर: *संदर्भ* पत्रिका से सम्बद्ध हैं।

मैं विज्ञान कथाएँ क्यों लिखता हूँ?

जयंत नारलीकर

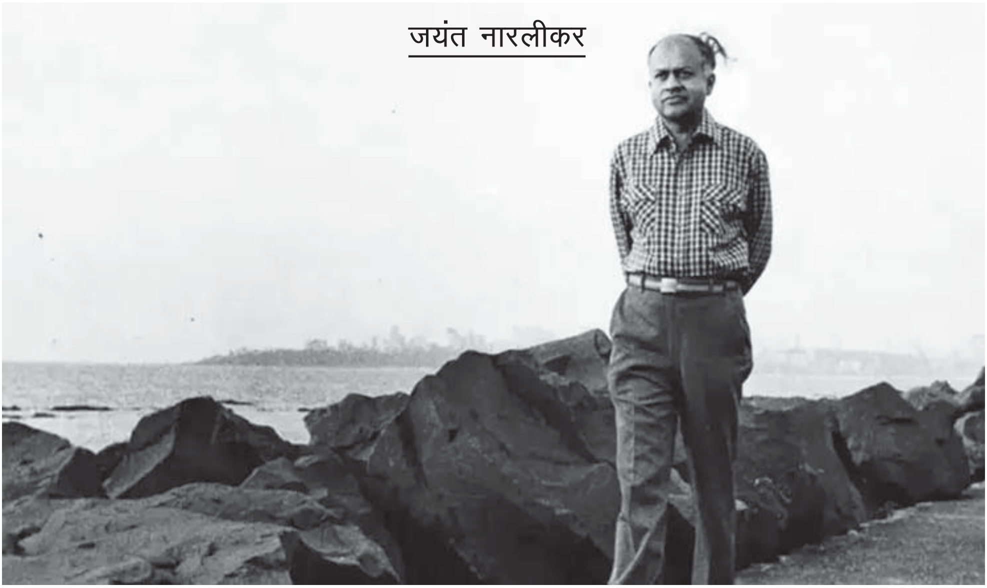

वह दिन मुझे आज भी भली-भाँति याद है, जब मुझे विज्ञान कथा लिखने का जोश आया था। यह बात सन् 1974 की होगी, अहमदाबाद में एक जानी-मानी विज्ञान संस्था की ओर से 'विज्ञान संवाद' का आयोजन किया गया था। इस संवाद में मंच पर आसीन वक्ता अपनी ओर से श्रोताओं को झपकी लेने देने का काम पूरी मुस्तैदी से कर रहे थे। कुछ श्रोता उन व्याख्यानों को बेहद लाचारी के साथ सुनने की कोशिश कर रहे थे। मैंने तो उनके व्याख्यान को सुनने का खयाल पहले ही मन से निकाल दिया था।

विज्ञान कथाओं का उद्‌गम

ऐसे ही किसी पल मुझे भीतर से यह खयाल आया कि क्यों न मैं विज्ञान कथा लिखने की शुरुआत करूँ। संवाद के आयोजकों ने जो कागज़ मुहैय्या करवाए थे, उनमें से कुछ कागज़ मैंने लिए और उन पर लिखना शुरू कर दिया।

मेरी विज्ञान कथा 'कृष्ण विवर' (ब्लैक होल) इस तरह सबके सामने आई। विज्ञान कथा लिखने का वो मेरा पहला प्रयास था। इस कथा को मैंने मराठी में लिखा था। उन्हीं दिनों

महाराष्ट्र में वैज्ञानिक सोच और विज्ञान में रुचि बढ़ाने के उद्देश्य से 'मराठी विज्ञान परिषद, मुम्बई' नामक संस्थान ने विज्ञान कथाओं के लिए एक प्रतियोगिता का आयोजन किया था। मेरे मन में इस कहानी को उस प्रतियोगिता में भेजने का विचार आया।

प्रतियोगिता की शर्तों के मुताबिक, शब्द संख्या, कहानी की लम्बाई एवं अन्य शर्तों को देखते हुए मेरी विज्ञान कथा इस प्रतियोगिता में एकदम फिट बैठती थी। मैंने प्रतियोगिता का एंट्री फॉर्म – नारायण विनायक जगताप – के नाम से भरा। इस नाम के पहले अक्षर उलट क्रम में मेरे वास्तविक नाम (जयंत विष्णु नारलीकर) से मेल खाते थे (जगताप का ज, विनायक का वि, नारायण का ना)। मराठी विज्ञान परिषद के पदाधिकारी मेरी लिखावट और हस्ताक्षर को पहचान लेंगे, इस डर से मैंने अपनी पत्नी मंगला से कहा कि वो अपनी लिखाई में उस विज्ञान कथा को लिख दें। विज्ञान कथा को किसी अन्य पते के साथ प्रतियोगिता में भेज दिया गया।*

कुछ दिनों बाद जब पता चला कि मेरी इस विज्ञान कथा को 'प्रथम पुरस्कार' मिला है तो वह मेरे लिए एक सुखद एहसास था। मैं विज्ञान कथा लिख सकता हूँ, यह दिलासा मिलने के बाद और विज्ञान कथा लिखने पर गम्भीरता से विचार न करते हुए, मैं यहीं रुकने वाला था। तब तक मैं यह सोचने लगा था कि विज्ञान कथा का प्रथम पुरस्कार छद्म नाम से कहानी लिखने वाले एक वैज्ञानिक को मिला है, यह ज़ाहिर होने के बाद मराठी विज्ञान परिषद इस बात का पर्याप्त प्रचार-प्रसार करके अन्य लेखकों को भी विज्ञान कथाएँ लिखने के लिए प्रोत्साहित कर सकती है। लेकिन इस दौरान एक ऐसी घटना घटी जिसके बारे में मैंने कभी सोचा भी नहीं था। वह घटना थी – श्रीमती दुर्गाबाई भागवत द्वारा अखिल भारतीय मराठी साहित्य सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में मेरे लेखन की प्रशंसा करना।

महान व्यक्तियों द्वारा खास मौकों पर कही गई विशेष बातों से साहित्य में नई धाराएँ बनने लगती हैं। इससे मराठी विज्ञान कथाएँ अछूती क्यों रहतीं।

इस अखिल भारतीय मराठी सम्मेलन के बाद विज्ञान कथा मराठी साहित्य का एक हिस्सा बन गई। कई अखबारों और पत्रिकाओं के सम्पादकों को ऐसा महसूस होने लगा था कि उनके प्रकाशनों में विज्ञान कथाएँ

---

* *नारलीकर इस प्रतियोगिता में एक सामान्य लेखक की हैसियत से हिस्सा लेना चाहते थे। उन्हें डर था कि वे वास्तविक नाम उजागर करेंगे तो उनकी वैज्ञानिक उपलब्धियों की वजह से निर्णायकों का फैसला प्रभावित हो सकता है। इसलिए उन्होंने आयोजकों से अपना वास्तविक नाम और पहचान छुपाकर रखी।*

होनी ही चाहिए। मराठी पत्रिकाओं के ‘दीपावली विशेषांक’ के लिए सम्पादक विज्ञान कथाओं के बारे में पूछताछ करने लगे थे। मेरे पास रोज़ इस बाबत खत भी आते थे। ये सभी बातें मेरे लिए अनअपेक्षित थीं।

मुझे लगता है, यहाँ एक बात साफ कर देना चाहिए कि मेरे विज्ञान कथा लिखने से पहले भी मराठी में विज्ञान कथा लिखी जाती थीं। सन् 1915 में ‘मनोरंजन मैग्ज़ीन’ में श्रीधर रानडे की विज्ञान कथा प्रकाशित हुई थी। इसके बाद 20वीं सदी के पाँचवें और छठवें दशक में काफी विज्ञान लेखक दिखाई देते हैं। इनमें से कुछ ने खुद से नए सिरे से विज्ञान कथाएँ लिखीं, तो कुछ ने अन्य भाषाओं की विज्ञान कथाओं का मराठी में अनुवाद किया। इन लोगों में डी.सी. सोमण, डी.पी. खांबेटे, नारायण धारप, बी.आर. भागवत के नाम प्रमुखता से लिए जा सकते हैं। सभी विज्ञान लेखकों के नाम यहाँ बता पाना सम्भव नहीं है। यहाँ तक पहुँचते हुए मुझे लगता है कि मैंने मराठी में विज्ञान कथाओं के उद्‌गम के बारे में मोटी-मोटी बात कर ली है।

विज्ञान कथाओं की ओर रुझान

मेरा रुझान विज्ञान कथाओं की ओर क्यों बढ़ा? इस पर सोचते हुए मुझे ऐसा महसूस हुआ कि खगोल विज्ञान का विद्यार्थी होने के नाते, वैज्ञानिक तथ्य क्या हैं और कहानी-उपन्यासों में इसे किस तरह पेश किया जाता है, मुझे इसकी समझ थी। धरती पर इन्सान के अस्तित्व को देखें तो इतना-सा इन्सान और उसके इर्द-गिर्द की दुनिया का विशाल विस्तार। इस सारी कायनात को समझना काफी मुश्किल है। जे.बी.एस. हाल्डेन तो कहते हैं कि जितना हम समझते हैं, कायनात उससे कहीं ज़्यादा जटिल है। जितना हम कायनात को जान पाए हैं, वह उससे कहीं ज़्यादा गूढ़ है।

ऊपर के पैराग्राफ में कही बातों को समझें तो उसका लब्बोलुआब यह है कि विज्ञान कथा लिखने के लिए लेखकों को कभी भी कल्पनाओं की कमी महसूस नहीं होगी। बस, सवाल यह है कि आप इन कल्पनाओं को कथा में गूँथकर किस तरह पेश करने वाले हैं। विज्ञान कथा में एक सन्तुलन बनाकर चलना होता है। विज्ञान कथा को विज्ञान पाठ्यक्रम का स्वरूप देने से काम नहीं चलेगा। इसी तरह विज्ञान कथा को हॉरर कथा या परीकथा में रूपान्तरित करके भी काम नहीं चलेगा। कई विज्ञान कथाएँ (इनमें मेरे द्वारा लिखी कथाएँ भी शामिल की जा सकती हैं) इस किस्म के सन्तुलन के अभाव में उतनी प्रभावी नहीं बन सकीं।

जो इन्सान वैज्ञानिक हो और विज्ञान कथाएँ लिखता हो, उसे हमेशा एक फायदा मिलता है कि वह विज्ञान के किसी सवाल के बारे में जो

चित्र-1: प्रोफेसर जयंत नारलीकर (निधन - मई 2025) अपनी पत्नी मंगला नारलीकर (निधन - जुलाई 2023) के साथ।

सोचता है, उसे कहानी के रूप में अधिक प्रभावी ढंग से बता सकता है। जबकि ऐसे ही किसी सवाल पर शोध-पत्र लिखते समय उसे इतनी आज़ादी नहीं मिल पाती। शोध-पत्रों में तथ्यों और आँकड़ों पर ज़ोर दिया जाता है। आपकी अटकलों और अन्दाज़ों का स्थान गौण होता है।

विज्ञान कथा में कल्पनाशीलता के आधार पर जो कहा गया है, यदि वो भविष्य में सच साबित हो तो क्या होगा? फ्रेड हॉयल मेरे गुरु, मेरे मार्गदर्शक एवं विज्ञान कथा लेखन की प्रेरणा भी रहे हैं। उनकी एक विज्ञान कथा 'द ब्लैक क्लाउड', अपने दौर की मशहूर विज्ञान कथा रही है। अपनी इस कथा में उन्होंने हाइड्रोजन जैसे परमाणुओं-अणुओं और तारों के बीच फैले धूल कणों से बादल बनने की कल्पना पेश की थी। 20वीं सदी के पाँचवें दशक में उन्होंने यह कल्पना पेश की थी लेकिन उस समय खगोल विज्ञान में काम करने वाले वैज्ञानिकों को यह विचार मान्य नहीं था। ऐसे घोर विरोध की वजह से हॉयल किसी वैज्ञानिक जर्नल में अपना शोध-पत्र पेश नहीं कर पाए। उन्होंने उस विचार पर 'ब्लैक क्लाउड' नाम से एक विज्ञान कथा लिखी जो बेहद मशहूर हुई। अगले कुछ दशकों में जो शोध हुए, उससे यह साबित हुआ कि सचमुच में ऐसे बादल और धूल कण अन्तरिक्ष में पाए जाते हैं।

ऐसा ही एक और किस्सा है। कुछ साल पहले पता चला कि स्विफ्ट टर्टल धूमकेतु जब अगली बार सूरज के पास से गुज़रेगा तब वह धरती से

टकराने वाला है। यह घटना 22वीं सदी में होगी। आने वाले समय में जब हमें इस धूमकेतु के बारे में और अधिक जानकारी मिलेगी तब इस तर्क या बात को सटीकता से परखा जा सकता है।

स्विफ्ट टर्टल धूमकेतु जैसी सम्भावित घटना को केन्द्र में रखते हुए मैंने कोई दो दशक पहले एक विज्ञान कथा लिखी थी। उस कहानी में ऐसे टकराव को रोकने के लिए जो उपाय मैंने सुझाए थे, वैसे ही तरीके आज के वैज्ञानिक भी सुझा रहे हैं। इसे देखकर मुझे सन्तोष का अनुभव हो रहा है। साथ ही, मैं सोचता हूँ कि यदि मान लिया जाए कि ऐसा खतरा सचमुच आ धमके तो मुझे पूरा विश्वास है कि 22वीं सदी के वैज्ञानिक इस खतरे को टालने का तरीका विकसित कर ही लेंगे।

मैं विज्ञान कथाएँ क्यों लिखता हूँ? रोज़ शोधकार्य के थकाऊ काम में से थोड़ा आराम मिले, इसलिए। सामान्य पाठकों को वैज्ञानिकों की दुनिया में जो चल रहा है, उसमें से कोई रोमांचक अनुभव दिया जाए। विज्ञान का महत्व और वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर समाज की समझ बढ़े, इसलिए मैं विज्ञान कथाएँ लिखता हूँ।

मेरे कुछ साहित्यिक मित्र कहते हैं कि ऐसे नज़रिए या उद्देश्यों को सामने रखकर किए गए लेखन को साहित्य नहीं कहा जा सकता। ऐसे मित्रों से मैं पूछना चाहता हूँ कि एक नज़रिए को सामने रखकर लिखे गए साहित्य को यदि आप साहित्य नहीं मानते हैं तो फिर तुलसीदास के रामचरित मानस को या महाराष्ट्र के सन्त-वाङ्मय को आप क्या कहेंगे? इस साहित्य को यदि आप साहित्य नहीं कहेंगे तो फिर आपको अपने साहित्य के लिए भी कुछ और मूल्य मापक इस्तेमाल करना चाहिए।

समीक्षाएँ एवं समीक्षक

अपनी बात को समाप्त करने से पहले कुछ बातचीत विज्ञान कथा समीक्षा एवं समीक्षकों के बारे में भी होनी चाहिए। मुझे लगता है कि समीक्षकों की कुछ टिप्पणियों पर जवाब देना भी ज़रूरी है। इस दुनिया में कोई भी इन्सान परिपूर्ण या परफेक्ट नहीं है। एक लेखक के रूप में मेरी भी कुछ सीमाएँ हैं जिनसे मैं भली-भाँति वाकिफ हूँ। मैं मराठी, हिन्दी और अँग्रेज़ी भाषा में लिखता हूँ। इन सभी भाषाओं में काफी लेखक मुझसे बहुत बेहतर हैं, यह बात भी मैं जानता हूँ। समीक्षकों द्वारा मेरे लेखन पर की गई टिप्पणियों को मैं स्वीकार करता हूँ कि मेरी कथाओं के पात्र नीरस हैं, कथानक भी प्रभावी नहीं होते हैं आदि आदि।

परन्तु विज्ञान कथाओं की समीक्षा करते समय कुछ समीक्षक बेहद निम्न स्तर पर चले जाते हैं। इससे सम्बन्धित कुछ उदाहरण मैं यहाँ देना चाहता हूँ।

कुछ समीक्षकों को मुझसे शिकायत है कि मेरी कथाओं के पात्र अँग्रेज़ी के काफी सारे शब्दों का इस्तेमाल करते हैं। मैं ऐसे समीक्षकों से यह कहना चाहता हूँ कि वे एक पूरे दिन अँग्रेज़ी शब्दों का इस्तेमाल किए बिना, खालिस मराठी में बोलकर दिखाएँ। उनको तुरन्त समझ आ जाएगा कि रोज़मर्रा के जीवन में अँग्रेज़ी के शब्द किस कदर पैठ बनाए हुए हैं। अन्य भाषाओं के शब्द हमारी भाषा में आने से हमारी भाषा समृद्ध और विकसित ही होती जाती है। मैं यह भी बताना चाहता हूँ कि आज हमारी भाषा में अपने-अपने से लगने वाले काफी सारे शब्द किसी समय बाहर से ही आए हैं। इस बात को भूलकर बिलकुल भी काम नहीं चलेगा।

अँग्रेज़ी को विज्ञान की भाषा के रूप में मान्यता मिल गई है। पूरी दुनिया में अँग्रेज़ी का काफी इस्तेमाल होता है। इसलिए विज्ञान कथाओं में टीवी, टेलिफोन, फैक्स, रडार, रॉकेट जैसे कई तकनीकी शब्दों का इस्तेमाल होना सहज एवं स्वाभाविक है। भाषाविदों की समितियाँ कई अँग्रेज़ी शब्दों के लिए मराठी में गढ़े गए अनुदित शब्द तो उपलब्ध करवा देती हैं लेकिन सामान्य पाठकों के लिए वे शब्द काफी दुरूह होते हैं और सहजता से स्वीकार्य भी नहीं होते।

मेरी एक विज्ञान कथा 'धूमकेतु' की समीक्षा करते हुए समीक्षक ने एक मज़ेदार टिप्पणी की। समीक्षक महोदय के मुताबिक, यह विज्ञान कथा फ्रेड हॉयल की विज्ञान कथा 'अक्टूबर द फर्स्ट इज़ टू लेट' की हू-ब-हू नकल है। इस टिप्पणी को पढ़कर मुझे अचरज हुआ। मैंने हॉयल की उस विज्ञान कथा को ध्यान से पढ़ा ताकि यह जान सकूँ कि इन दोनों कथाओं में क्या साम्य है। हॉयल की कथा पढ़ने के बाद मुझे समझ आया कि दोनों कथाओं में एक ही साम्य है और वो है - अक्टूबर का महीना।

बाद में, उन समीक्षक महोदय से मुलाकात का अवसर भी मिला। मैंने उनसे पूछा, "क्या आपने फ्रेड हॉयल की विज्ञान कथा पढ़ी है? यदि आपने पढ़ी है तो मेरी कहानी का कथानक उस कहानी से लिया गया है, यह किस आधार पर कह रहे हैं?" उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि मूल कहानी तो उन्होंने पढ़ी ही नहीं थी।

विज्ञान कथाओं की समीक्षा में इस तरह की कई भूल-चूक होती रहती हैं। कई बार इनमें से हास्य-विनोद की छटा भी बिखरती है। एक विद्वान ने विज्ञान कथाओं पर एक थीसिस लिखकर पेश की। इस थीसिस को एक यूनिवर्सिटी ने डॉक्टरेट की उपाधि से भी नवाज़ा। इस विद्वान ने भी पूर्व के समीक्षकों जैसी गलतियाँ की हैं। मूल लेखन को पढ़ने का कष्ट न करते हुए, डंके की चोट पर यह कह दिया कि भारतीय विज्ञान लेखक

अँग्रेज़ी विज्ञान लेखकों की विज्ञान कथाओं में से कथानक उठाते हैं।

कॉनन डायल की शेरलॉक होम्स वाली कहानियों का मैं दीवाना हूँ। मज़े के लिए ही मैंने एक प्रयोग किया। होम्स और वॉटसन को बतौर किरदार चुनते हुए, मैंने एक विज्ञान कथा लिखी। मराठी में कथा होने के बावजूद मैंने इस बात का ध्यान रखा कि शैली कॉनन डायल जैसी ही बनी रहे। कई पाठकों को ऐसा लगा कि यह उनकी किसी कहानी का अनुवाद है। कुछ पाठकों ने खत लिखकर मूल कथा के बारे में पूछताछ भी की थी।

हमारे एक समीक्षक महोदय ने तो कमाल ही कर दिया। अपनी पिछली टिप्पणी से एक कदम आगे बढ़कर यह बता दिया कि यह कहानी कॉनन डायल की मशहूर कहानी 'ओपल टियारा' से ली गई है। कॉनन डायल द्वारा ऐसे किसी शीर्षक से कोई कहानी न लिखी होने के बावजूद समीक्षक महोदय ने यह खोज की थी। मेरी कहानी 'रिलेटिविटी एण्ड टाइम ट्रेवल' पर लिखी गई थी। कॉनन डायल इस विषय पर कहानी नहीं लिख सकते थे क्योंकि जिस दौर में वे कहानियाँ लिख रहे थे, उस समय तक आइंस्टाइन का सापेक्षतावाद का सिद्धान्त जन सामान्य तक पहुँचा भी नहीं था। यदि इस सिद्धान्त के बारे में कोई ढंग से जानता था तो वे चन्द वैज्ञानिक ही थे जिन्हें इस विषय की समझ थी।

मैं वुड हाउस के लेखन को भी शौक से पढ़ता हूँ। मेरी एक कहानी वुड हाउस की शैली में लिखी गई थी। कई पाठक यहाँ भी गच्चा खा गए। बहुत-से लोगों को लगा कि मैंने वुड हाउस की कहानी का अनुवाद किया है। पहले की ही तरह मुझसे मूल कथा के लिए पूछताछ भी की गई। जब पाठकों को पता चला कि वुड हाउस ने ऐसी कोई कहानी लिखी ही नहीं है तब कई लोगों ने मेरे प्रयास की प्रशंसा भी की।

काफी लोग मुझसे पूछते हैं कि आपको विज्ञान कथा लिखने के लिए समय कैसे मिलता है। इस सवाल का लहज़ा कुछ ऐसा होता है कि शोधकार्य के काम को छोड़कर, मैं यह सब क्या कर रहा हूँ। मैं ऐसे सवाल पूछने वाले सभी लोगों को यह बताना चाहता हूँ कि विज्ञान कथा लेखन मेरा शौक है, थकान उतारने का एक तरीका है। एक मनोरंजन है।

विज्ञान कथाएँ लिखने के लिए समय किस तरह निकाला जाए, यह बात भी अहम है। दिन के 24 घण्टे में से आपको अच्छा-खासा समय नौकरी या व्यवसाय के कामकाज को देना होता है। इसके अलावा नींद और अन्य ज़रूरी कामों में भी समय जाता है। इन सबके बाद जो थोड़ा समय मिलता है, वो भी यूँ ही निकल जाता है।

मुझे याद आता है कि एक बार मैनेजमेंट से सम्बन्धित एक व्याख्यान

में व्याख्यानकर्ता ने एक बाल्टी में अपने साथ लाए हुए बड़े-बड़े पत्थर के टुकड़े रखना शुरू कर दिए। जब बाल्टी टुकड़ों से भर गई तब उन्होंने श्रोताओं से पूछा, "क्या बाल्टी भर गई है?" सभी ने कहा, "हाँ, भर गई।"

तब व्याख्यानकर्ता ने कहा, "नहीं।" उन्होंने अपने साथ लाई हुई रेत को भी बाल्टी में उड़ेलना शुरू कर दिया। बाल्टी ऊपर तक रेत से भर गई थी। उन्होंने फिर पूछा, "क्या बाल्टी भर गई है?" इस बार श्रोताओं ने कहा, "नहीं।"

व्याख्यानकर्ता ने कहा, "सही फरमाया आपने।" फिर उन्होंने बाल्टी में पानी उड़ेलना शुरू किया। फिर उन्होंने श्रोताओं से पूछा, "इस सबसे आप क्या समझ पाए हैं?" श्रोताओं ने बताया, "जब आप अपने बड़े काम निपटा रहे होते हैं, उस दौरान आपको जो विश्राम के पल या फ्री टाइम मिलता है, उसे छोटे कामों के लिए इस्तेमाल कर लेना चाहिए।"

थोड़ी देर बाद व्याख्यानकर्ता ने दूसरी बाल्टी में पहले रेत और फिर पानी भर दिया। इसके बाद पत्थर के बड़े टुकड़ों के लिए जगह ही नहीं बची थी। इसका मतलब कि आपको छोटे काम निपटाने में इतना समय निकल जाता है कि बड़े कामों के लिए समय ही नहीं बचता। यह था समय का नियोजन या टाइम मैनेजमेंट का महत्व।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि आप हवाई अड्डे पर बैठे होते हैं और अनाउंसमेंट होती है कि जहाज़ दो घण्टे की देरी से उड़ान भरेगा। ऐसे समय किसी को मत कोसिए। मेरी सलाह को याद कीजिए और विज्ञान कथा लिखना शुरू कर दीजिए! यकीन मानिए, आप भी विज्ञान कथा लिख सकते हैं!

जयंत नारलीकर (1938-2025): प्रबुद्ध वैज्ञानिक और विज्ञान कथाकार। कैंब्रिज से गणित में डिग्रियाँ हासिल करने के बाद उन्होंने खगोल-विद्या और खगोल-भौतिकी में विशेष प्रावीण्य प्राप्त किया। किंग्ज़ कॉलेज के फेलो और इंस्टिट्यूट ऑफ थिओरेटिकल एस्ट्रोनॉमी के संस्थापक सदस्य के रूप में कुछ समय कैंब्रिज में रहे। IUCAA (Inter-University Centre for Astronomy and Astrophysics), पुणे के संस्थापक सदस्य। नारलीकर 'पद्मभूषण' और 'पद्मविभूषण' सहित कई राष्ट्रीय व अर्न्तराष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित।

मराठी से अनुवाद: माधव केलकर: *संदर्भ* पत्रिका से सम्बद्ध हैं।

यह लेख राजहंस प्रकाशन, पुणे द्वारा सन् 2020 में मराठी भाषा में प्रकाशित *समग्र जयंत नारलीकर (विज्ञान कथाओं का संकलन)* के प्राक्कथन *मी विज्ञान कथा का लिहितो* से साभार।

बच्चों का बैंक

अमित और जयश्री

बड़वानी ज़िले का आधारशिला लर्निंग सेंटर एक आवासीय स्कूल था। छुट्टियों के बाद जब बच्चे घर से आते थे तो जेब-खर्च के लिए उनके माँ-बाप कुछ पैसे देते थे। सत्र के बीच में जब मिलने आते थे तब भी माँ-बाप कुछ-न-कुछ उनके हाथ में दे ही जाते थे। पैसों को सम्भालना बच्चों के लिए एक बड़ा काम होता था। बच्चे अपने घर से बिस्तर लाते थे और एक पेटारा[1] लाते थे जिसमें वे पैसे और अन्य कीमती सामान जैसे लहसुन व मिर्च की चटनी, नमकीन सेव, भुना आटा - पीठू[2] या कभी-कभी मेथी के लड्डू रखते थे। इन खाने की चीज़ों के साथ-साथ साबुन, तेल, और कुछ पैसे भी होते थे।

घर से आने के एक हफ्ते तक बच्चों का चोरी-छुपे, स्कूल का टेकड़ा उतरकर गाँव में रामलाल की दुकान पर जाना-आना लगा रहता था। या एक किलोमीटर दूर फिरोज़ की दुकान से कुछ खाने का सामान लेने निकल जाते थे। जब कभी हम किसी

---

[1] लोहे की पेटी।

[2] आटे और गुड़ के लड्डू।

था। हमने भी सोचा कि यह सही आइडिया है। और हम निजी सम्पत्ति के खिलाफ भी थे। हमने बच्चों के साथ विस्तार से एक मीटिंग की और उन्हें समझाया कि कैसे अपने घरों में भी सबका सामान खुला रखा रहता है। हम लोग भी एक परिवार की तरह ही हैं। तो एक-दूसरे की चीज़ कोई क्यों उठाएगा। या कोई चीज़ नहीं है तो माँग लेना चाहिए आदि आदि। कुछ बच्चों ने ताले दे दिए। सारे ताले-चाबियाँ शिक्षकों ने जमा कर लिए। बच्चे ऐसे काम कर लेते थे, इसलिए नहीं कि वे इन बातों से सिद्धान्ततः सहमत होते थे, वे तो इसलिए कर लेते थे क्योंकि सब करने को तैयार हो गए। और उन्हें भी कुछ नई बातों में मज़ा आता था।

काम से किसी बच्चे को ढूँढते और वह नहीं मिलता तो पता चलता था कि वह शायद चाटली गया होगा। कल ही उसके घर से कोई आया था न...।

ताले, चाबियाँ व भरोसे की परीक्षा

कई बार बच्चों के बीच झगड़ों का एक कारण साबुन, मिर्च की चटनी या पैसों की चोरी हो जाना भी होता था। खास तौर पर छोटे बच्चों को बहुत टेंशन रहता था कि कोई, कुछ चुरा न ले। हालाँकि, पेटारे में ताले डले होते थे लेकिन कई बार वे दूसरी चाबियों से भी खुल जाते थे। बड़े बच्चों को पता चलेगा कि इसके पास पैसे हैं तो माँग लेंगे। पेटारे बच्चों की सम्पत्ति होती थी। उसकी रक्षा में उनका पूरा दिमाग उलझा रहता था।

केरल के कनवु[3] स्कूल में देखा कि बच्चों का सामान खुला पड़ा रहता

लेकिन चोरियाँ नहीं रुकीं। उनके माँ-बाप भी इस विचार से सहमत नहीं थे इसलिए उन्हें नए ताले लाकर दे देते थे। शिक्षक फिर ज़ब्ती करते। यह सिलसिला कुछ समय चला, फिर हमने इसका आग्रह छोड़ दिया और पेटारे पर फिर से ताले लगने लगे।

बच्चों के माता-पिता को ताले न लगाने वाली बात अच्छी नहीं लगती थी। पालक मीटिंग में भी यह बात

---

[3] *कनवु केरल के वायनाड ज़िले में स्थित एक वैकल्पिक स्कूल है।*
कनवु के बारे में अधिक जानकारी के लिए संदर्भ के अंक-70 (जुलाई-अगस्त 2010) में प्रकाशित लेख 'सीखने की जगह - कनवु' पढ़ें।

बताई गई और एक-एक को अलग से भी समझाते थे लेकिन इस बात को वे मानते नहीं थे। इसी दौरान एक बच्चे की माँ ने बताया कि वो अपने घर में तो शक्कर, घी जैसी चीज़ें ताले में रखती हैं जिससे बच्चे निकालकर न खा लें। हमें भी समझ आया कि इस मामले में मूल्य शिक्षा सम्भव नहीं है। खैर, बात चल रही थी, बच्चों के पास पैसे रहने की और उनकी चोरी की।

टीचर्स-मीटिंग में इस मुद्दे पर चर्चा हुई और तय हुआ कि बच्चों से पैसे ले लिए जाएँ और आगे के लिए उनके माता-पिता से कहें कि बच्चे के हाथ में पैसे न दें। जब भी अभिभावक बच्चों से मिलने आते तो शिक्षक भी बच्चों के साथ जाते और अभिभावकों को इस बारे में बताते। लेकिन वे लोग नहीं मानते थे और बच्चों को पैसे दे ही जाते थे। कुछ माता-पिता को यह बात समझ में आ जाती, और वे पैसे शिक्षक को दे जाते थे और बच्चे को बता देते कि पैसों की ज़रूरत पड़े तो शिक्षक से माँग लें।

बीच-बीच में जब कोई काण्ड हो जाता था तो बच्चों के पेटारों की ज़ब्ती हो जाती थी। कुछ के पैसे पेटारों में मिल जाते थे। कुछ बच्चे कहीं छुपा देते थे। कुछ लोग खाना बनाने वाली महिलाओं को दे देते थे। इस ज़ब्ती से अच्छा माहौल नहीं

फोटो: अमित

बनता था। बच्चों के साथ शिक्षकों का रिश्ता भी खराब होता था। बच्चे झूठ बोलते थे, एक-दूसरे की चुगली करते थे।

हमें महसूस हुआ कि यह सब तो ठीक नहीं हो रहा है। शुरू तो यह सोचकर किया था कि शिक्षा सामाजिक परिवर्तन की बुनियाद होगी लेकिन यह क्या चल रहा है!!

खैर, काफी समझाने के बाद अधिकतर माँ-बाप शिक्षकों के पास पैसे रखवाने लगे। कुछ हमारे पास भी रखवा देते थे। कुछ थोड़ा-बहुत तुरन्त खर्च के लिए दे जाते थे। कई बार ऐसा भी हो जाता था कि शिक्षक से पैसे खर्च हो जाते और जब बच्चा माँगता तब उसे पैसे नहीं मिल पाते थे। इस वजह से बच्चे नाराज़ हो जाते थे। क्लास में कई बार बच्चों के पास पेंसिल या रबर नहीं होती थी जबकि उनके पैसे शिक्षक के पास जमा होते थे। बच्चों की नज़र में शिक्षकों के पास एक और सत्ता आ गई थी जिसके कारण भी बच्चे उनसे डरते थे - यदि शिक्षक को नाराज़ किया तो कहीं ऐसा न हो कि वे पैसे ही न दें। एक बार फीस भरते समय किसी बच्चे के पिता ने बताया था कि बच्चे के कुछ रुपए शिक्षक के पास जमा हैं इसलिए फीस पूरी नहीं दी।

बच्चों का बैंक

इन सब अनुभवों से यह समझ में आया कि बच्चों के पैसे किसी एक जगह जमा किए जाएँ और उसका लेखा-जोखा रखा जाए। यहीं से बच्चों के बैंक की शुरुआत हुई। शुरुआत में इसकी ज़िम्मेदारी एक शिक्षक ने सम्भाली। एक रजिस्टर में प्रत्येक बच्चे का एक पेज बनाकर, उसका पूरा हिसाब उसमें रखा जाता था – कितने पैसे जमा किए, कितने निकाले। बैंक कोई बिल्डिंग या मोटे-से ताले वाला कमरा नहीं था। बैंक एक पेटारा था जिसमें पैसे व रजिस्टर रखे जाते थे। पेटारे में ताला था जिसकी चाभी शिक्षक के पास होती थी और पेटारा हमारे घर पर रखा जाता था।

बैंक बनने से मामला काफी हद तक सुलझ गया था। प्रत्येक रविवार को बैंक खुलता था। शुरू-शुरू में शिक्षक हमारी नज़र के सामने घर के बरामदे में बैठते थे, बाद में वे स्कूल की अन्य जगहों पर बैठने लगे। जिन बच्चों को पैसे निकालने होते थे, वे आकर पैसे निकाल लेते थे। उनके पेज पर हिसाब लिख दिया जाता था और उन्हें बता दिया जाता था कि उनके खाते में कितने पैसे बचे हैं। बैंक के रजिस्टर में नाम और हिसाब रखने के साथ-साथ बच्चों को भी एक पास-बुक दी जाती थी। इस पर एक मटके का चित्र बना था और लिखा था - बूँद-बूँद से गागर भरे, गागर-गागर से सागर! इस पास-बुक में भी एण्ट्री की जाती थी। इससे बच्चों के पास भी अपने पैसों का हिसाब रहता

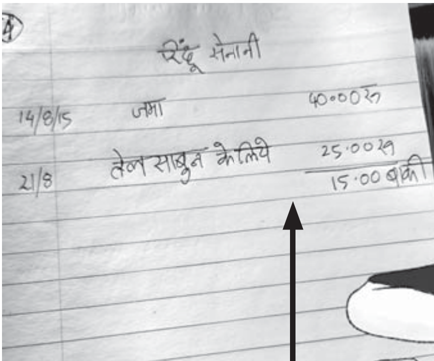

फोटो: अमित

था। जैसे ही यह व्यवस्था जम गई, फिर दो बड़े बच्चों को बैंक का काम देखने के लिए तैयार किया गया। जिस बच्चे के बारे में शिक्षकों को लगता था कि वह पैसों की गड़बड़ी नहीं करेगा और हिसाब रख सकेगा, उसे ही यह काम सौंपा जाता था। स्कूल के मंत्री मण्डल में एक और मंत्री जुड़ गया - बैंक मंत्री!! शिक्षक भी बैंक मंत्री के साथ इस काम को देखते थे।

कुछ समय बाद देखा गया कि बच्चे दो-चार बार में ही अपने पैसे खत्म कर देते थे, आसपास की दुकानों से खाने का सामान खरीदकर। जब पेंसिल, रबर या कॉपी की ज़रूरत पड़ती तो पता चलता कि पैसे ही नहीं बचे हैं। और एक-आध बार ऐसा भी हुआ कि बैंक में पैसे होते हुए भी बच्चे के पास पेंसिल नहीं थी। वैसे बच्चे के पास पेंसिल न होना बहुत ही आम बात थी। प्रत्येक ग्रुप में दो-तीन बच्चे ऐसे होते ही थे जिनके पास लिखने-पढ़ने का पूरा सामान नहीं होता था और इस वजह से वे शिक्षक से नज़रें बचाने के लिए कुछ-न-कुछ हरकतें करते रहते थे ताकि शिक्षक समझ न पाए कि वह कुछ नहीं कर रहा है - जैसे यह जानते हुए भी कि बैग में पेंसिल नहीं है, बैग में हाथ डालकर ढूँढने का ढोंग करते रहना! बच्चों से पूछते तो वे कहते कि उन्होंने तो शिक्षक को बताया था लेकिन शिक्षक ने लाकर नहीं दी। कई बार रविवार को जब घर से कोई मिलने आता था तब बच्चे उन्हें इस बारे में बताते थे और वे हमसे शिकायत करते थे कि बच्चे के पास ये नहीं है, वो नहीं है। वे कहते कि वे तो सामान खरीदने के लिए बच्चे को

पैसे दे गए थे। हमें इस बात से बहुत शर्म आती थी कि हमें नहीं पता और घरवाले बता रहे हैं कि क्या कमी है।

इसलिए अब यह किया जाने लगा कि रविवार को जब बैंक खुलता था तो कई बार बच्चे को हाथ में पैसे न देकर, उन्हें जो भी सामान मँगवाना होता था, वो बैंक मंत्री को लिखवा दिया जाता। बैंक मंत्री उनके खाते से सामान के पैसे काट देता था और सामान की लिस्ट बनाता था। यदि बच्चे के खाते में यह ज़रूरी सामान खरीदने के बाद पैसे बचते तो उसे बिस्कुट आदि के लिए दे दिया जाता। स्कूल का सामान खरीदने जो भी जाता था, वह यह सब सामान भी ले आता था और बैंक मंत्री को सौंप देता था। वे बच्चों को उनका सामान दे देते थे। अब गड़बड़ी यह ही हो सकती थी कि बाज़ार से कुछ सामान लाना ही भूल गए। कई बार बैंक मंत्री किसी साथी के साथ जाकर चाटली में फिरोज़ की दुकान से ही सामान ले आता था। अधिकतर सामान यहाँ मिल जाता था।

साइकिल चलाने के लिए भी बच्चे बैंक से पैसे निकालते थे। छुट्टी के समय बच्चों को स्कूल की साइकिल किराए पर चलाने के लिए दी जाती थी। एक रुपया प्रति घण्टा। इसके लिए एक साइकिल मंत्री था जो साइकिल चलाने वालों की लिस्ट बनाकर बैंक मंत्री से बोलकर उनके खाते से पैसे कटवा देता था। बच्चे

उसके साथ जाकर यह ज़रूर देखते थे कि उनका पैसा उतना ही कटा है जितना काटना चाहिए कि नहीं।

बैंक व दुकान के बहाने शिक्षा

काफी कुछ सोचा गया बैंक के बारे में। आधारशिला में यह बैंक-व्यवस्था कई सालों तक चली। लेकिन ऐसी सभी गतिविधियों को किसी को चलवाना पड़ता है। अपने आप चलने पर तो ऐसे अतिरिक्त काम धीरे-धीरे लुप्त हो जाते हैं।

इन सब बातों का लब्बोलुआब यह निकला कि इस मसले पर एक मीटिंग बुलाई गई जिसमें यह निर्णय हुआ कि एक दुकान शुरू की जाए। वाह! आधारशिला स्कूल में दुकान! क्यों नहीं?

शायद किसी टीचर ने ही यह सुझाव दिया हो, याद नहीं है। बाज़ार से सामान लाने में कोई समस्या थी क्या? दुकान के लिए भी तो बाज़ार से ही सामान लाना पड़ेगा। या थोक में लाने में कुछ फायदा था, जिस कारण यह दुकान शुरू की गई। यह भी सम्भव है कि हम लोगों को कुछ भी नया करने के विचार अच्छे लगते थे और खास तौर से तब तक जब तक कि वे एक झंझट न बन जाएँ! हाँ, यह बात हम पर बहुत फिट बैठती है। जब कोई ऐसा विचार आता था तो हम उसके बारे में लम्बी सोच पर निकल जाते थे।

जैसे बैंक को ही लें। धीरे-धीरे यह हमारे लिए केवल पैसों की व्यवस्था नहीं रह गई थी। इसमें हमें बच्चों के शिक्षण की सम्भावना नज़र आ गई थी। सोचा जाए तो यह बहुत बड़ी बात थी कि सातवीं-आठवीं का कोई बच्चा स्कूल के सौ से अधिक बच्चों के पैसों का लेखा-जोखा रख रहा था। इसके लिए उसे संख्याओं के साथ बहुत सहज होना पड़ता था जो बड़े-बड़ों के लिए आसान नहीं होता। प्रत्येक बच्चे का अलग-अलग पेज पर हिसाब रखना। फिर कुल पैसों का मिलान करना और देखना कि उतने पैसे हाथ में हैं या नहीं। यह बहुत मुश्किल होता था और हमें याद है कि कई बार हम या शिक्षक घण्टों तक इसमें सर खपाते रहते थे। हम सबके लिए बच्चों को पैसे देकर उनपर विश्वास करना भी बहुत बड़ी बात थी। इस बैंक में हम यह सब देखते थे। हालाँकि, बड़ी क्लास के चार-पाँच बच्चे ही सालभर में यह काम कर पाते थे लेकिन उनके लिए तो यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण ज़िम्मेदारी और अनुभव होता था।

इसी तरह जब दुकान लगाने की बात हुई तब भी हमने इन्दौर के थोक बाज़ार के मूल्य, मण्डी, चाय के पैकेट पर लिखे दाम और दुकानदार के मुनाफे आदि पर बहुत-सी बातें कर लीं। हमने सोचा कि इस बहाने बच्चों को इन्दौर का थोक बाज़ार भी दिखा दिया जाएगा।

आधारशिला की एक खासियत यह भी थी कि बच्चों को जो भी अनुभव दिलवाया जा सकता था, उसे दिला दिया जाता था। बहुत ज़्यादा सफलता आदि का आगा-पीछा हम लोग नहीं सोचते थे, न ही किसी एक चीज़ को लेकर बहुत लम्बी योजना बनाते थे। कुछ चीज़ें चल पड़ती थीं, कुछ नहीं। इसके चलते बच्चों के साथ आधारशिला में बहुत-से विविध तरह के काम हुए।

बड़े लोग इसे पढ़कर यह महसूस कर सकते हैं कि जो व्यवस्था लोगों के लिए कुछ अच्छा सोचकर शुरू की गई, वो कैसे धीरे-धीरे उनके निर्णयों को कंट्रोल करने की ओर चली जाती है! लेकिन मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि यह एक अच्छा प्रयोग था। खास तौर से छोटे बच्चों को अपना पैसा रखने के लिए एक सुरक्षित जगह मिल गई थी। पैसे चोरी या छीन लिए जाने के डर से वे मुक्त हो गए थे। साथ ही, एक उदाहरण खड़ा हुआ जिसमें बच्चे अपनी व्यवस्था खुद ही चला रहे थे। साकड़ गाँव के इस टेकड़े पर एक छोटा-सी कम्युनिटी थी, जिसमें अधिकतर बच्चे थे जो खुद के विभिन्न तरह के काम अपने आप करने की कोशिश कर रहे थे। ऐसी ट्रेनिंग किसी भी समाज के लिए एक अच्छी बात ही है।

अमित और जयश्री: लगभग तीन दशकों से पश्चिम मध्य प्रदेश में भील, भीलाला, बारेला आदिवासियों के बीच में रह रहे हैं। साथ ही, खेड़ूत मज़दूर चेतना संगठ, नर्मदा बचाओ आन्दोलन व पश्चिम भारत प्रवासी मज़दूर संघ के साथ-साथ आदिवासियों के अन्य संघर्षों के साथ भी खड़े हैं। 1998 से आदिवासी बच्चों व युवाओं की शिक्षा के लिए काम कर रहे हैं।

सभी चित्र: अक्षया भगवतुला: विशाखापट्टनम, आंध्र प्रदेश की एक एनिमेटर और इलस्ट्रेटर हैं। वर्तमान में, पुणे के एमआईटी इंस्टीट्यूट ऑफ डिज़ाइन से डिज़ाइन में स्नातक की पढ़ाई कर रही हैं। उन्हें फोटोग्राफी, इलस्ट्रेशन करना और फिल्में पसन्द हैं।

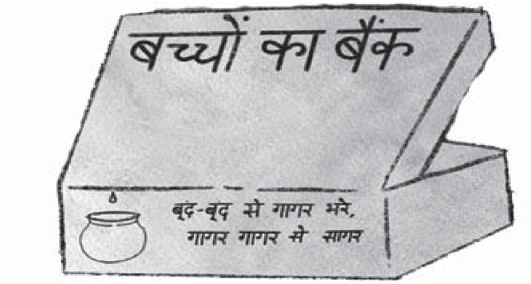

सुबह की संगीत सभा
विस्तार है अपार, प्रजा दोनों पार

अनिल सिंह

स्कूल का कोई भी दिन बच्चों के स्वागत से ही शुरू होता। यहाँ न तो घड़ी का काँटा बताने वाली घण्टी बजती और न दरवाज़े पर कोई दरबान होता। सुबह नौ से साढ़े-नौ के बीच स्कूल का यह आँगन बच्चों के रंग-बिरंगे फूलों से भर जाता। क्या छोटे, क्या बड़े। झूलों पर, रेत पर, क्यारियों में और पूरे प्रांगण में ये तितलियों की तरह मँडराते रहते।

स्कूल का पहला सत्र दौड़-भाग और व्यायाम का होता। हर रोज़ अपनी मरज़ी की चाल। न कोई सीटी न कोई निर्देश, बस एक-दूसरे को देखकर ही एक क्रम-सा बना लेते बच्चे। इसके बाद शुरू होती, मॉर्निंग गेदरिंग। बाहर सुबह कैसी भी हो, आनन्द निकेतन डेमोक्रेटिक स्कूल में यह संगीतमय और मस्ती भरी ही होती।

मॉर्निंग गेदरिंग: उल्लास के गीत

आँख मून्दकर, हाथ जोड़कर, यांत्रिक ढंग से ईश विनय करने और कराने में हमारी कोई दिलचस्पी नहीं रही। हमारा यह मानना रहा कि प्रार्थनाएँ, भजन और पॉपुलर गीत-कविताएँ तो समाज में और परिवार में बिखरे पड़े हैं। ये तो बच्चों को सुनने-सुनाने को मिल ही जाते हैं, लेकिन स्कूल में तो हमें वह खज़ाना संजोना चाहिए जो बच्चों को अलग अनुभव दे सके। परम्परागत गीत हमारी धरोहर हैं लेकिन वे सब उपयुक्त हैं और संजोने लायक हैं, ऐसा ज़रूरी नहीं। उनमें भी अक्सर बहुत सारी जड़ता, भेदभाव, रूढ़ियों का पोषण और प्रतिगामी मूल्य पाए जाते हैं।

इसलिए बच्चों के रंग में रंगे और प्रेम, उल्लास व हास-परिहास में पगे, न्याय, बराबरी और साथियापा के मूल्यों वाले गीत हमने चुने। कुछ बच्चों ने भी सुझाए। विविध भावों में पिरोये, विविध भाषाओं और अंचलों के इन गीतों ने बच्चों के एहसास को विस्तार दिया। हिन्दी समेत पहाड़ी, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी, बांग्ला, झारखण्डी, तमिल और अँग्रेज़ी के ये गीत, बच्चों के लिए दुनिया की किसी रंगीन तस्वीर से कम नहीं। इन गीतों में प्रकृति के लिए अनुराग है, नदियों, पहाड़ों और पंछियों से संवाद है, मस्ती और खेल है, दोस्ती है, न्याय है, बराबरी है और हँसी-ठिठोली भी। कोई रंग नहीं जो फीका हो। गीतों की सुरीली तान पर डफली और ढोलक की ताल। ऐसी सुबह के क्या कहने। और वो भी हर रोज़।

इस मॉर्निंग गैदरिंग ने पूरे दिन को लयात्मक, ऊर्जावान और साथीपन से भरा बनाए रखने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई। अलग-अलग सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि के बच्चे जब समवेत स्वर में गीत गाते तो उनके बीच एक बॉण्डिंग बनती। यह बॉण्डिंग स्कूल में पूरे समय बनी रहती। बच्चे कई बार गीतों के ज़रिए एक-दूसरे से जुड़ पाते। अलग-अलग भाषा, बोली और परिवेश के गीत बच्चों के मन में जाने-अनजाने, समाज के व्यापक ताने-बाने को समझने और उसे स्वीकारने की ज़मीन तैयार करते।

गीतों का खज़ाना

इन विविधता भरे गीतों के संकलन की भी ज़बरदस्त कहानी है। स्कूल में अलग-अलग समय शिक्षार्थी, शोधार्थी, विज़िटर, वॉलंटियर और अलग-अलग महाविद्यालयों व विश्वविद्यालयों से इंटर्न आते। जब भी स्कूल में कोई आता, हम उसे मॉर्निंग गैदरिंग में शामिल होने के लिए ज़रूर कहते। हम उनसे भी आग्रह करते कि वे भी कोई गीत या कविता साझा करें। इस तरह वह कविता या गीत भी हमारे खज़ाने में जुड़ जाता। इसके अलावा बच्चे, शिक्षक और अभिभावक भी नए-नए गीत हमारे इस खज़ाने में जोड़ते चले जाते।

फोटोः विजय झोपाटे

अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी में एजुकेशन की विद्यार्थी शीतल पॉल जब अपने असाइनमेंट के लिए स्कूल में रहीं तो बच्चों से उनकी अच्छी दोस्ती बनी और उन्होंने बच्चों को कई गीत सिखाए। इनमें से एक गीत बच्चों के लिए उन दिनों का सबसे पसन्दीदा गीत बना। 'कौवों की काएँ-काएँ, चिड़ियों का हल्ला, सुबह-सुबह जाग गया सारा मुहल्ला'। यह गीत स्कूल से निकलकर फिर कई जगह पहुँचा।

एक समय पर शोभा नागराजन बच्चों को इंग्लिश पढ़ाने के लिए कुछ समय के लिए स्कूल से जुड़ीं। शोभाजी तमिल भाषी थीं। उन्होंने *रोजा* फिल्म का मशहूर गीत 'दिल है छोटा-सा, छोटी-सी आशा' का तमिल भाषान्तरण बच्चों को सिखाया। 'चिन्नच् चिन्न आसै सिरगडिक्कुम् आसै - मुत्तु मुत्तु आसै, मुडिन्दु वैत्त आसै...'। बच्चों ने न सिर्फ कुछ दिन लगाकर इसको अच्छी तरह से सीखा बल्कि कई मौकों पर लोगों के सामने इसकी प्रस्तुति भी दी। और इस तरह हमारे गीतों के खज़ाने में एक तमिल गीत की एण्ट्री हो गई।

स्कूल कैंपस का प्रबन्धन करने वाले और बच्चों के साथ मेंटल मैथ व मैदानी खेल गतिविधियाँ करने वाले उत्साही शिक्षक साथी और बच्चों के विजय चाचू ने इन मॉर्निंग गैदरिंग का

उत्साह और इसकी तासीर कभी कमज़ोर नहीं पड़ने दी। डफली के साथ ऊँचे-से-ऊँचा स्वर लगाने में विजय ने कभी कोई कसर नहीं छोड़ी। बच्चों जैसी सुलभता और हास-परिहास के धनी विजय इस मॉर्निंग गैदरिंग में जान डाल देते थे। *एकलव्य* में काम करने के दौरान सीखे गीत और कविताएँ उन्होंने बच्चों को सिखाए। 'चूहों म्याऊँ सो रही है', 'मालती के बच्चे को सर्दी लग गई', 'पहाड़ी पर पेड़ था', 'एक कोई कस्बा था', 'राजा की रानी की वाह भई वाह'... वगैरह-वगैरह। 'पहाड़ी पर पेड़ था', 'एक कोई कस्बा था' और 'राजा की रानी की वाह भई वाह' – ये तीनों ऐसी कविताएँ हैं जिनमें एक के बाद एक लाइनें जुड़ती जाती हैं। आगे गाने वाला पिछली लाइनों को भी जोड़ता जाता है। बाकी सबको शुरू से अब तक की कविता दुहरानी होती है। इस तरह इसकी पूँछ बढ़ती जाती है। यह बड़ा मज़ेदार होता है।

इस संकलन को समृद्ध बनाने में बहुतेरों का योगदान रहा है। अभिभावकों ने भी इस संकलन में गीत जोड़े। वे अपनी संस्कृति और संगीत को स्कूल में लेकर आए। स्कूल में शुरुआत से ही जुड़ने वाली अबीर की माँ, कविता बिष्ट, कुमाऊँ क्षेत्र से हैं, अल्मोड़ा ज़िले से। उन्होंने बच्चों को कई कुमाऊँनी गीत सिखाए। उनमें से 'रंग रंगीलो मेरो ये प्यारो नैनीताला' बच्चों का पसन्दीदा गीत बन गया। इसके अलावा 'ततुक नी लगा उदेख, घुनन मुनइ नि टेक जैता एक दिन तो आलो उ दिन यो दुनी में', और 'बेड़ू पाको बारमासा...' भी बच्चों ने मज़े-मज़े में सीख लिए। कविता ने जब 'ततुक नी लगा उदेख...' गीत का अर्थ समझाया तो लगा कि यह तो 'वह सुबह कभी तो आएगी' गीत में कही गई बात जैसा ही है। इससे गीतों का मज़ा कई गुना बढ़ गया।

अम्बर स्कूल के शुरुआती दिनों से जुड़े बच्चों में से एक है। अम्बर के अभिभावक टुलटुल और राजेश स्कूल की संकल्पना के दिनों से हमारे साथी रहे हैं। टुलटुल बांग्ला भाषी हैं। उन्होंने हमारे खज़ाने में कई बांग्ला गीत जोड़े। उनमें से दो गीत तो बच्चों ने बांग्ला में सीख ही लिए थे। पहला रवीन्द्रनाथ टैगोर का लिखा हुआ 'आज धानेर खेते रौद्र छाया, लूकू चूरी खेला...' और दूसरा जसमी उद्दीन का लिखा हुआ भटियाली गीत, 'अमाये दूबाइली रे, आमाये भाषाईली रे, ओकुल दोरीयार बूझी, कूल नाई रे...'। 'अमाये दूबाइली रे...' गीत की धुन का हिन्दी गीत भी साथ-साथ ही गाया जाता रहा – 'गंगा आए कहाँ से, गंगा जाए कहाँ रे, लहराए पानी में जैसे धूप-छाँव रे'। इसमें हम लोगों ने एक अनूठा प्रयोग किया। एक लाइन बांग्ला और एक लाइन हिन्दी करके गाने में, इसका

जादू ही कुछ और स्तर पर होता।

छह साल का समर कुछ दिनों के लिए स्कूल में आया। पहले तो वह समर कैंप से जुड़ा लेकिन सत्र शुरू होने पर नियमित स्कूल आने लगा। उसकी माँ स्तुति ने मॉर्निंग गैदरिंग में एक लोक शैली का गीत जोड़ा – 'हाय कसम बाजरा, मेरी कसम बाजरा'। उन्होंने बच्चों को इस गीत का अभिनय करना भी सिखाया। बच्चों ने इस गीत में खूब मज़े किए। स्तुति खुद इस गीत को इतने आनन्द से गाती कि बच्चों को इसे सीखने में बड़ी आसानी और उत्साह रहा।

छोटे बच्चों के साथ मॉण्टेसरी किट पर समय बिताने वाली नमिता भगत (छोटी) ने छत्तीसगढ़ी की क्षेत्रीय बोली 'सादरी' में एक गीत बच्चों को सिखाया – 'इने डाला बाथेला, उने डाला बाथेला'। नमिता ने बच्चों को इसका हिन्दी मायना भी बताया। इसमें जब एक लाइन आती –'उँदरो रे उँदरो, माटी कुरई दे' तो बच्चे चूहों की तरह उछल-उछल कर मिट्टी खोदने का अभिनय करने लगते और उसमें उन्हें बहुत मज़ा आता।

गीतों में न्याय व जनपक्षधरता

संगीत और सामाजिक विज्ञान की शिक्षक और इस मॉर्निंग गैदरिंग एवं स्कूल की मज़बूत स्तम्भ वर्षाजी ने बच्चों को कई सारे गीत सिखाए। वर्षाजी सामाजिक आन्दोलनों से लम्बे समय तक जुड़ी रहीं और महिला अधिकारों व नागरिक अधिकारों के संघर्ष की साथी रही हैं। जब ऐसा शिक्षक स्कूल में होता है तो स्कूल की प्रक्रियाओं में, शिक्षण की विषयवस्तु में और पूरे माहौल पर उसका प्रभाव पड़ता है। उनकी दृष्टि से चुने हुए गीतों ने हमारे संकलन को जनपक्षधरता, न्याय और बराबरी वाले मूल्यों की ज़मीन पर खड़ा किया। और इस तरह किसानों, मज़दूरों, आदिवासियों और हाशियाकृत लोगों की आवाज़ बुलन्द करने वाले गीत हमारे संकलन में जुड़े। 'गाँव छोड़ब नाहीं, जंगल छोड़ब नाहीं', 'गुलमिया अब हम नाहीं बजइबो', 'अज़दिया हमरा के भावेले' और मार्टिन लूथर किंग का कालजयी गीत 'हम होंगे कामयाब'। इसके अलावा 'दरिया की कसम, मौजों की कसम, ये ताना-बना बदलेगा' जैसे गीतों ने इन जज़्बों को एक विस्तृत फलक दिया।

वर्षाजी स्कूल में छोटे और बड़े, सभी बच्चों की नियमित संगीत कक्षा करती थीं। इन कक्षाओं में बच्चे मॉर्निंग गैदरिंग में गाए जाने वाले गीतों के अलावा स्वरों और अलंकारों का भी अभ्यास करते थे। ठुमरी, दादरा, गज़ल, सूफी गायन – सब कुछ बच्चों ने इन कक्षाओं में खँगाला। एक भोजपुरी गीत 'ए हो! का हो! गाजर शकरकन्द चले नी न्योते में' गीत बच्चों के बीच सबसे ज़्यादा

पसन्द किया गया। अवधी का एक लोकगीत भी बच्चों ने उनके साथ सीखा – 'पिया मेहन्दी ले यादा मोती झील से, जाके साइकील से ना'। वर्षाजी द्वारा सिखाया और तैयार कराया कजरी शैली का एक गीत 'सरसों फूल रही खेतन में...' बच्चों ने कई जगह प्रस्तुत भी किया। हारमोनियम और डफली की संगत ने उनमें संगीत का संस्कार डालने में बहुत मदद की।

वर्षाजी ने ही अमेरिकन प्रतिरोध के गीतकार बॉब डिलेन के गीत 'how many roads must a man walk down, before he called him a man' से हमारा परिचय कराया। इस गीत को गाते समय कभी ऐसा न हुआ होगा जब हमारे रोंगटे न खड़े हो गए हों। और बच्चे क्या तान के साथ इसे गाते रहे हैं। इस गीत ने बच्चों के साथ हम बड़ों को भी एक नया अनुभव दिया।

हमने फिल्मों से भी कुछ सुन्दर-सुन्दर गीत लिए। जैसे 'अपने लिए जिए तो क्या जिए', 'किसी की मुस्कराहटों पे हो निसार', 'मधुबन खुशबू देता है', 'इक दिन बिक जाएगा माटी के मोल', 'हरी-हरी वसुन्धरा पे नीला नीला ये गगन' आदि। इसके अलावा गोरख पाण्डे का 'हिलेले झकझोर दुनिया', बल्ली सिंह चीमा का 'ले मशालें चल पड़े हैं लोग मेरे गाँव के' और दुष्यन्त कुमार के

कालजयी गीत 'फिर धीरे-धीरे यहाँ का मौसम बदलने लगा है', और 'हो गई है पीर पर्वत-सी पिघलनी चाहिए'। इसके अलावा अदम गोंडवी का 'सौ में सत्तर आदमी फिलहाल जब नाशाद हैं', या 'गीत गा रहे हैं हम रोशनी को ढूँढते हुए', इपटा का गीत 'तू ज़िन्दा है तो ज़िन्दगी की जीत पर यकीन कर' को भी हमने अपने गीतों के खज़ाने में जोड़ लिया।

गीत के साथ संवाद

नरेन्द्र शर्मा द्वारा लिखा और भूपेन हज़ारिका द्वारा गाया एक हिन्दी गीत का किस्सा तो कमाल का रहा। एक बार हमने गीत 'विस्तार है अपार, प्रजा दोनों पार, करे हाहाकार...' बच्चों के बीच सुनाया। बच्चे भी साथ-साथ गाने लगे और उन्हें यह गीत मोटे तौर पर याद भी हो गया। वे इसके शब्दों को पूरी तरह समझ नहीं रहे थे लेकिन सुन-सुनकर वैसा-का-वैसा बोलने लगे थे। एक बार सुबह की संगीत सभा में जब हमने यह गीत गाया तो उसके ठीक बाद आठ साल की जन्नत ने पूछा, "यह कौन बोल रहा है कि 'गंगा तुम बहती हो क्यों'?" हम सब सोचने लगे कि इसका क्या जवाब होगा। हमने उस समय तो सिर्फ इतना कहा कि "जिसने यह गीत लिखा है, वही बोल रहा है 'गंगा तुम बहती हो क्यों'।" लेकिन यह बात हम सबके साथ रही आई और हम सोचते रहे कि जब तक गीतों का सन्दर्भ न खुले और वह पूरी तरह से समझ में न आए, तब सिर्फ गीत याद हो जाने को हम क्या मानें?

हमने तय किया कि इस गीत के शब्दों और कहन पर हम बात करेंगे। जैसे हम पाठ्यपुस्तक के पाठों और कविताओं पर बात करते हैं ताकि वे पूरी तरह से समझ में आ सकें तो फिर गानों के साथ हम ऐसा क्यूँ सोचते हैं कि सिर्फ याद हो जाने या धुन पकड़ लेने से ही काम पूरा हो गया? अगले दिन, सुबह की संगीत सभा में हमने एक-दो शुरुआती गीत गाने के बाद, भूपेन हज़ारिका के गाए इसी गीत को लिया। एक-एक लाइन को गाने और बच्चों द्वारा दुहराने के साथ-साथ ही हम उसमें कही गई बात पर थोड़ी-थोड़ी चर्चा करके, उसका पूरा सन्दर्भ और अर्थ खोलते गए। किसके विस्तार की बात हो रही है? प्रजा कौन है? हाहाकार कब और क्यों होता है? निशब्द होने का क्या मतलब है?

अब हमने देखा कि बच्चे कुछ ज़्यादा ही रुचि और जोश के साथ इस गीत को गा रहे थे। गंगा के दोनों विस्तृत किनारों पर, इस पार और उस पार रहने वाले लोग दुख और तकलीफों में हैं, उनमें हाहाकार मचा हुआ है और वे बदहाली में मदद के लिए पुकार रहे हैं। ऐसे में गंगा सिर्फ बहती रहे? वह गंगा जो सदियों से हमारी आस्था का प्रतीक है, हमारे

उद्धार का प्रतीक है। इतनी बड़ी, विशालकाय और पौराणिक महत्व की नदी जिसके पानी में प्रकृति को हरा-भरा व खुशहाल बनाने की तासीर है, वह हमारी बदहाली को चुपचाप बहते हुए देखती रहे। यह शिकायत है एक आम आदमी की, और उसकी तरफ से यह बात इस गीत का लेखक गंगा से कह रहा है।

इसी तरह आगे की सभी पंक्तियों पर हम रुक-रुककर और बच्चों से पूछते एवं बतियाते हुए गीत के शब्दों और उनमें कही गई बातों का सन्दर्भ खोलते गए। यह हमारे लिए भी एकदम नया अनुभव था। लेकिन इससे हमें एक बात समझ में आई कि गीतों को सिर्फ गाए जाने वाली चीज़ समझना कितनी बड़ी भूल है। ये मानकर कि आगे जाकर बच्चे खुद इन गीतों को समझ लेंगे, बच्चों को हम उनके पूरे सन्दर्भ और अर्थ से आज वंचित नहीं रख सकते। इससे न सिर्फ गीत का सौन्दर्य मारा जाता है बल्कि बच्चे गीत के साथ जुड़ाव भी नहीं बना पाते। एक यांत्रिक रिश्ता भर रह जाता है।

इसके बाद कई रोज़ तक सुबह की संगीत सभा में हम नियमित रूप से इस गीत को गाते रहे। हमने देखा कि इस गीत में लगातार निखार और जीवन्तता आती गई। इसे हमने बच्चों के साथ कई मंचों पर सामूहिक रूप

से गाया। भोपाल गैस त्रासदी की बरसी पर साथी संगठनों के साथ मिलकर भी हम इस गीत को गाते रहे हैं। इसके अलावा, स्कूल के सालाना जलसे में, किसी विज़िटर ग्रुप के आने पर या शहर की अन्य संस्थाओं द्वारा आमंत्रित किए जाने पर बच्चों ने यह गीत ज़रूर सुनाया। हर बार उनके तेवर और तान में एक पायदान की ऊँचाई ही देखने को मिली। गीत को जान लेने के बाद, उसके गाए जाने में अलग ही मज़ा था।

एक बार भोपाल स्थित भारत भवन की कला विथिका में चित्रकार और कवि तेजी ग्रोवर के चित्रों की प्रदर्शिनी लगी थी। हम बच्चों को लेकर भारत भवन के भ्रमण पर थे। पेंटिंग्स देखने कला विथिका भी गए। उस वक्त वहाँ तेजी ग्रोवर भी थीं। हमें पता चला कि आज उनका जन्मदिन है। हमने बच्चों के साथ मिलकर वहीं कला विथिका में एक गीत जो उन दिनों हम सबसे ज़्यादा गा रहे थे, प्रस्तुत किया। गीत था 'ये कौन चित्रकार है'। तेजीजी ने भावुक होते हुए कहा कि इतना सुन्दर उपहार उन्हें कभी नहीं मिला।

शिक्षा में संगीत का अभिन्न स्थान

स्कूल में संगीत का बसा होना, इस बात की पहचान बना कि हम स्कूल और पढ़ाई-लिखाई को किस तरह देखते हैं। गणतंत्र दिवस हो, स्वतंत्रता दिवस हो, समर कैंप हो, किन्हीं विज़टर का स्वागत हो या किसी मीटिंग का आगाज़ हो – गीत-संगीत के बिना यह कभी पूरा न हुआ। स्कूल में सिर्फ पढ़ाई-लिखाई होगी और संगीत के लिए कहीं और जाना होगा, यह न स्कूल के लिए ठीक है न बच्चों के लिए।

बच्चों के शुरुआती समूह को इसका सबसे लम्बा अनुभव मिला। वे इस मॉर्निंग गैदरिंग के आकार लेने के साक्षी रहे हैं। इस मॉर्निंग गैदरिंग में उनकी भागीदारी और संगीत की कक्षाओं का ही असर कहें कि आज भी वे बच्चे किसी-न-किसी तरह संगीत से जुड़े हुए हैं। संगीत का यह रस बच्चों और बड़ों में एक-सा असर रखता है। जो एक बार इस मॉर्निंग गैदरिंग में शामिल हुआ वो फिर इसे कभी भुला न पाया।

अनिल सिंह: पिछले 25 वर्षों से सामाजिक क्षेत्र में सक्रिय हैं। विगत डेढ़ दशक से प्राथमिक शिक्षा उनका प्रमुख कार्य रहा है। भोपाल के आनंद निकेतन डेमोक्रैटिक स्कूल की संकल्पना के दिनों से वे जुड़े रहे और उसका संचालन किया। वर्तमान में, टाटा ट्रस्ट के पराग इनिशिएटिव से जुड़कर बाल साहित्य और पुस्तकालय संवर्धन का काम कर रहे हैं।

सभी फोटो: अनिल सिंह।

बच्चे और एटलस - 2

प्रकाश कान्त

बच्चों ने सामाजिक अध्ययन पुस्तक के सारे नक्शों में तो रंग भर ही दिया, इसके अलावा अन्य चित्र भी रंग डाले। सामाजिक अध्ययन ही नहीं बल्कि हिन्दी, अँग्रेज़ी, संस्कृत जैसे विषयों की पुस्तकों के चित्र भी! उनके इस प्रयास से यह तो हुआ ही कि उनकी ब्लैक एंड व्हाइट किताबें न सिर्फ रंगीन बन गईं, बल्कि कुछ हद तक आकर्षक भी हो गईं। किताबों में यह उनकी अपनी तरह की हिस्सेदारी थी जिसके चलते वे अपनी किताबों के ज़्यादा नज़दीक पहुँच गए थे। उनके और किताबों के बीच थोड़ी-सी आत्मीयता बढ़ गई थी जो ज़ाहिर है कि सीखने-समझने में मददगार ही रही।

यह सब तो ठीक था लेकिन असल मकसद था, अपने विषय की समझ बनाना और बढ़ाना! इसके लिए मैंने बच्चों से पहले भारत और महाद्वीपों के खाके खरीदवाए। फिर उनमें विभिन्न स्थान एवं चीज़ें दर्ज करवाकर रंग भरवाना शुरू किया। लेकिन दिक्कत यह थी कि एक ही खाके में इतनी सारी चीज़ें आ नहीं सकती थीं। भारत या हर महाद्वीप के कई-कई खाकों की ज़रूरत थी। इसका आसान रास्ता देसी किस्म की ट्रेसिंग पद्धति में खोजा।

देसी ट्रेसिंग पद्धति

असल में, ऐसी कोई पद्धति होती नहीं है! यह नाम ट्रेसिंग के इस नायाब तरीके को मैंने अपनी सुविधा के लिए दिया था। यह तरीका ट्रेसिंग पेपर की मदद से ट्रेस करने या ट्रेसिंग टेबल का इस्तेमाल करने से अलग था। और ग्रामीण बच्चों के लिहाज़ से आसान और सस्ता भी! कपास के एक फाहे या कपड़े के छोटे-से टुकड़े पर घासलेट (मिट्टी का तेल या केरोसीन) डाला और हो गया काम! फाहे या कपड़े के टुकड़े को कॉपी के कागज़ पर फेर दिया जाता। इससे कागज़ कुछ देर के लिए पारदर्शी बन जाता। उसे सम्बन्धित नक्शे या चित्र पर रखकर पेंसिल से ट्रेस कर लिया जाता। कुछ देर के बाद घासलेट उड़ जाता और ट्रेस किया हुआ नक्शा या आकृति शेष रह जाती, जिसे स्केच पेन और रंगों के ज़रिए उभार लिया जाता। यह देसी ट्रेसिंग विधि थी। इस तरीके के ज़रिए बच्चों ने बड़ी तादाद में नक्शे तैयार किए।

इस विधि का उपयोग कर बिना लाइन वाले कोरे कागज़ जोड़कर दीवार पर लटकाने के लिए बड़े साइज़ के नक्शे भी बनाने की कोशिश

की। इस तरह के नक्शे 40-50 बच्चों के साथ क्लास में बैठकर नहीं बनवाए जा सकते थे। सामग्री का जितना फैलारा होता, उसमें सभी के लिए क्लास में बैठकर बनाना मुश्किल था। सो, कुछ को क्लास में, कुछ को बरामदे में और बाकी को मैदान में बने पक्के मंच पर बिठाकर बनवाना पड़ता। अजीब-सा दृश्य होता। सड़क से गुज़रने वाले रुककर, बनते हुए भारत, एशिया, यूरोप या अमेरिका को देखने लगते। ज़ाहिर है, यह सब 40 मिनट के एक पीरियड में सम्भव नहीं होता। ऐसे में आसपास के दो पीरियड या बीच की छुट्टी को उससे मिलाना पड़ता!

अन्ततः जैसे-तैसे भारत, एशिया या यूरोप बन जाते! उनके आसपास के सागर-महासागर भी बन जाते! कुछेक पहाड़, नदियाँ भी! हालाँकि, इनमें शुद्ध कुछ भी नहीं होता। तटों के कटाव गायब होते। नदियों के मोड़ अमूमन सरल या थोड़ी-सी घुमावदार रेखाओं में बदल चुके होते। पहाड़ ज़रूर अपनी जगह थोड़े ठीक-ठाक खड़े मिलते। शहर अपनी जगह से अपनी सुविधानुसार इधर-उधर सरके हुए होते। सुविधा के अलावा जगह देखकर! दिल्ली मथुरा की जगह हो सकती थी और भोपाल सीहोर की जगह! शहरों द्वारा इतनी छूट लेना आम और मामूली बात थी। बाकी बारीक चीज़ों के लिए गुंजाइश नहीं होती।

बेशक, इस तरह से नक्शे बनवाना और नक्शे के ज़रिए पढ़ाना, शिक्षण के मान्य नियमों के अनुसार तो अशुद्ध और बिलकुल ही गलत तरीका था। शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं में समझाया भी जाता है कि किसी चीज़ को गलत तरह से समझाने से बेहतर है कि न समझाया जाए, क्योंकि एक बार गलत समझाने के असर से बच्चा देर तक या कभी-कभी तो उससे कभी भी उभर नहीं पाता है। शिक्षा या बाल मनोविज्ञान के हिसाब से यह बात सही थी। मैं कुछ दिन शुरू में इस

उलझन या अनिर्णय में फँसा भी रहा। वैसे घासलेट से ट्रेसिंग या कॉपी करवाने का थोड़ा-बहुत प्रयोग मैं घाट-नीचे* के प्राथमिक स्कूल करडी में कर चुका था। वह अनुभव ज़्यादा बुरा नहीं रहा था। बच्चों को भी उसमें मज़ा आया था। वही कुछ दिमाग में खदबदा रहा था।

सामाजिक अध्ययन ही नहीं बल्कि किसी भी शिक्षण को अधिक रोचक कैसे बनाया जाए, यह हर शिक्षक के सामने एक मौजू सवाल हुआ करता है। शिक्षा-सिद्धान्त में बहुत सारी चीज़ें कही जाती हैं, ज्ञात से अज्ञात की ओर, सरल से कठिन की ओर वगैरह। पता नहीं क्यों मुझे लगा था कि गलत से सही की ओर, जैसा भी कुछ होना चाहिए! कुछ नहीं की जगह पहले गलत, और उस गलत की जगह फिर सही। हो सकता है कि मैं गलत रहा हूँ। खासकर, शिक्षा-सिद्धान्त और बाल मनोविज्ञान के हिसाब से! लेकिन मैं विषय में घुसने और बच्चों को भी घुसा ले जाने का कोई उचित-अनुचित रास्ता तलाश रहा था। दरवाज़ा, खिड़की न हो तो कोई दरार, छेद ही सही। यह सब भी न हो तो फिर सेंध लगाई जाए। ज़ाहिर है, यूँ तो यह एक तरह का अपराध ही था। मैं एक तरह से शैक्षिक अपराध ही कर रहा था और बच्चों से भी अनजाने में करवा रहा था। लेकिन कुछ दिनों बाद मैंने पाया कि यह अपराध उतना भी बुरा नहीं था। नक्शों के उन सारे अभ्यासों से बच्चों के दिमाग में विभिन्न द्वीप, महाद्वीप, भूखण्ड, सागर, महासागर, झील, पहाड़, नदी वगैरह की मोटी-मोटी-सी छवि और स्थिति तो अंकित हो ही गई।

सीखने की सुन्दरता

जैसा कि पहले बात हुई, इसका पता मुझे काफी साल बाद तब चला जब कॉलेज में भूगोल पढ़ रहे पुराने छात्रों ने मिडिल की सातवीं-आठवीं कक्षा में नक्शों के किए गए उस अभ्यास से बड़ी क्लासों में होने वाले फायदों और कक्षा में अपने बेहतर प्रदर्शन के बारे में बताया था। मैंने उसका मतलब यह भी निकाला था कि उन दिनों का नक्शों का वह गलत-सलत अभ्यास शायद उतना भी निरर्थक नहीं था। बच्चों की नक्शों को लेकर थोड़ी-बहुत समझ बनाने में उसने कुछ तो मदद ज़रूर की। देसी ट्रेसिंग का यह तरीका बच्चों ने प्रश्नोत्तर और अन्य जानकारियाँ लिखते वक्त भी इस्तेमाल किया। पहाड़, पठार, द्वीप, घाटी, खाड़ी जैसी भू-आकृतियों की परिचयात्मक टिप्पणियाँ लिखते वक्त लगभग पुस्तक में दिए गए चित्रों की तरह चित्र भी बना लिए। उन्हें रंग भी लिया। जबकि पुस्तक में दिए चित्र रंगीन नहीं, सादे थे। बेशक, इस अभ्यास से बच्चों को सीखने-समझने

** घाट-नीचे मानकुण्ड, बागली ब्लॉक का आदिवासी क्षेत्र है।*

का आनन्द भी आया। साथ ही, उनकी कॉपियाँ खुद उन्हें भी सुन्दर दिखने लगीं। तब मैंने जाना कि सीखना-समझना सुन्दरता तक भी ले जा सकता है और इस तरह पढ़ना-पढ़ाना सुन्दर भी हो सकता है।

सवाल हो सकता है कि वह आनन्ददायक भी हो सकता है या नहीं, जैसा कि उसे होना चाहिए और जो कि वह आम तौर पर हो नहीं पाता। पहले भी नहीं हो पाता था जब शिक्षा का ढाँचा पारम्परिक था, जिसमें मानकर चला जाता था कि ज्ञान या विद्या किसी रहस्यमय जगह पर सात तालों में बन्द ऐसी अनमोल और दुर्लभ चीज़ है जो बेहद कठिन तपस्या से ही हासिल हो सकती है। पुराने ऋषि-मुनियों, तपस्वियों द्वारा कथित ज्ञान इसी तरह से हासिल करते बताया गया था जिसे 'दिव्य ज्ञान' भी कहा गया था। इस धारणा और रूढ़ हो चुके एक तरह के दुराग्रह ने चीज़ों को बहुत उलझाया और सीखने-जानने को संकटग्रस्त बनाया। इस कथित ज्ञान का अगर हमारे समाज से कोई स्वाभाविक रिश्ता नहीं बन पाया और उसकी छवि हमेशा आतंककारी ही बनी रही तो उसका एक कारण शायद यह भी था। बाद में शिक्षा का स्वरूप जब बदला तब उसकी बुनियाद में भी यह धारणा काम करती रही। आगे चलकर लगातार फैलता पाठ्यक्रम और किताबों के बढ़ते बोझ ने मोटे तौर पर इस धारणा को जाने-अनजाने मज़बूत ही किया और सीखना मुश्किल होता चला गया।

स्कूल: आनन्द नहीं, दबाव

यह अफसोसनाक हकीकत है कि शिक्षा को लेकर सारी बहसों, योजनाओं, कार्यक्रमों के बावजूद सीखना आनन्ददायक नहीं बन सका। पाठ्यक्रम, किताबें, परीक्षाएँ, मंथली टेस्ट, पढ़ने के तौर-तरीके, स्कूल और कक्षा का वातावरण, ये सब मिलकर सीखने को यातनादायक बनाते रहे। ज़ाहिर है, स्कूल और शिक्षक बच्चे के लिए डरावने होते चले गए। स्कूल बच्चे के लिए तेज़ी-से एक ऐसी जगह बनते चले गए जहाँ बच्चा अपनी मर्ज़ी से खुशी-खुशी नहीं

जाता था। इसलिए जाता था कि माता-पिता या पालकों द्वारा भेजा जाता था। मैंने देखा कि सरकारी स्कूलों में जो बच्चा अपने पिता या अन्य के साथ खुशी-खुशी हँसता हुआ पहली क्लास में दाखिल होने आता था, वही कुछ दिनों बाद ही स्कूल आने से बचने लगता था। उसके चेहरे की हँसी, मन की खुशी गायब हो जाती थी। वह एक बुझा हुआ बच्चा बन जाता था। सरकारी स्कूल इन बुझे हुए बच्चों के ही भण्डारगृह बनकर रह जाते थे। आज भी यही हालत है, बल्कि और बदतर ही हुई है।

प्राइवेट स्कूल इनसे ज़्यादा अलग नहीं हैं। वे सजे-सँवरे कत्लगाह हैं जिसमें बच्चों की संवेदना के साथ-साथ जिज्ञासा, उत्साह आदि भी कत्ल होते रहते हैं। वहाँ सब कुछ चमकदार होता ज़रूर है लेकिन ऐसा बिलकुल नहीं होता जो सीखने-जानने को आनन्ददायक बना सके और स्कूल को एक खुशहाल जगह में तब्दील कर सके।

ऐसे में नक्शों का यह अभ्यास मेरे लिए एक सुखद अनुभव में बदला। बच्चों को कक्षा में, बरामदे में, मैदान के मंच पर एशिया, अफ्रीका, अमेरिका, यूरोप से 'भिड़ते' देखना एक खास अनुभव था। छोटे-छोटे समूहों में बैठे बच्चे रंग, पेंसिल, रबर, पेन आपस में लेते-देते जब अपनी बोली मालवी में चर्चा करते थे, तब वह सब सुनने लायक नायाब चीज़ हुआ करती थी।

"ए चन्दूड़ी, या मेक्सिको की खाड़ी याँ थोड़ी आयगी...। देख ये याँ ये हे..."

"गज्जू, यो कईं लिख्यो, भूमध्य सागर! म्हारे कईं लग्यो कि भूमध्य रेखा!"

"यो काळो सागर काळो होगो कँईं?"

"गेल्या, थने एशिया का कने यो मलेशिया तो बनायो ई नी...।"

"अरे, हव रे, हूँ भूली ज गयो..."

"यो कईं लिख्यो हे, मेडागास्कर?"

ये और इस तरह के बहुत सारे अन्य संवाद! खाटी मालवी में! बीच-बीच में ज़रूरी पूछताछ या शिकायत के लिए मेरी पुकार।

"ओ, सर। देखो तो, या रेखा म्हारे नील नदी नी बनाने दे...या देखो, उमा ने प्रशान्त महासागर काँ लिख्यो हे!"

सर को जवाबतलबी के लिए उस समूह के पास हाज़िर होना पड़ता। तब तक दूसरे समूह की पुकार आ जाती, "ओ सर...!"

इस मामले में लड़कियों की ज़्यादा शिकायत आती। आम तौर पर कहा जाता है कि लड़के-लड़कियों की संयुक्त क्लास में लड़कियाँ या तो बिलकुल नहीं बोलतीं या बहुत कम बोलती हैं। लेकिन मेरा अनुभव एकदम फर्क रहा। सामाजिक अध्ययन की इन क्लासों में सबसे ज़्यादा लड़कियाँ बोलती थीं। अनवरत। नॉन-स्टॉप। मुझे रोकना पड़ता था उन्हें।

देसी नक्शों के ज़रिए भूगोल

बहरहाल, नक्शों का यह देसी और बिलकुल अशुद्ध किस्म का अभ्यास भूगोल की क्लासों को थोड़ा-बहुत आनन्ददायक बनाने में सहायक रहता। और इसकी शुरुआत छठी क्लास से सिर्फ महाद्वीपों-महासागरों का परिचय करवाने वाले नक्शों से हो जाती। ट्रेस करो। पेन फेरो। नाम लिखो। फिर रंग भरो। महाद्वीपों में कत्थई या भूरा, और महासागरों में नीला! बच्चे बनाते-रंगते! उन्हें एक तरह का मज़ा आता। वे अपने ही बनाए नक्शों को देखकर खुश होते। अपने किए काम से खुश होना! एक खास तरह की अनुभूति! वे अपनी कॉपी के साइज़ का नक्शा बनाकर कॉपी में चिपका लेते। बाद में, इस क्रम में आने वाले नक्शों में रेखाएँ आने लगीं। भूमध्य रेखा, कर्क रेखा, मकर रेखा! सागर आने लगे, अरब सागर, लाल सागर, काला सागर! खाड़ियाँ आने लगीं, बंगाल की खाड़ी, मेक्सिको की खाड़ी। इसी तरह से कुछ और चीज़ें भी! सिन्धु घाटी के शहर, तीन हज़ार साल पहले के छोटे जनपद, बाद के सोलह जनपद, अजातशत्रु और महापद्मनन्द का साम्राज्य वगैरह। खाली नक्शा धीरे-धीरे भरने लगा और समझ बनने लगी।

महाद्वीपों के प्राकृतिक नक्शे बनाते समय बच्चों को ज़रूर दिक्कत होती थी। इसलिए भी कि उनमें एकसाथ पहाड़-पठार, मैदान, नदी, झील सब मौजूद होते थे। उतनी बारीक चीज़ों को अपने बनाए जा रहे नक्शों में दर्ज करना, बच्चों के लिए मुश्किल होता था। एटलस के नक्शे तो इस मामले में, जैसा कि पहले उल्लेख किया,

और भी उलझनें पैदा करते थे। बच्चों के पास सबसे सस्ता वाला एटलस था जिसमें रंग इत्यादि की छपाई बहुत अस्पष्ट, अशुद्ध और अपठनीय थी। मैं खुद उन सबको देख-पढ़कर ठीक-से समझ नहीं पाता था। उनके ज़रिए बच्चों को कुछ समझाना और भी मुश्किल था। ज़्यादा महँगे एटलस खरीद पाना हर बच्चे के बस का था नहीं। रही बात कक्षा की दीवार पर टाँगे जाने वाले बड़े नक्शों की तो वे तादाद में ज़्यादा हो नहीं सकते थे। ऐसे में बारी-बारी से दिखाने से बात ज़्यादा बनती नहीं थी। सामाजिक अध्ययन की अपनी किताब में दिए गए श्वेत-श्याम नक्शे ज़रूर इस मामले में सुविधाजनक थे। उन्हें पढ़ा-समझा जा सकता था।

लेकिन इन सबमें एक चीज़ हुई। बच्चों ने नक्शे बनाने के इस अभियान में एटलस और अपनी किताब के नक्शों को खूब उलटा-पलटा। नक्शों का एक तरह से कचूमर बना दिया। लेकिन मुझे लगता था कि क्या दूसरा और कोई तरीका नहीं हो सकता था जिससे कि वे इन नक्शों से इतनी-इतनी बार इतनी-इतनी तरह से गुज़रते। वैसे नक्शों के साथ किताबों में दिए गए अभ्यास के प्रश्न इस सिलसिले में मददगार हो सकते थे। लेकिन ऐसे प्रश्नों की अपनी एक सीमा होती है। हल हो जाने के बाद उनके भीतर की सीखने-सिखाने की चमक अगर गायब नहीं तो कम ज़रूर हो जाती थी। उत्तर जान लेना, निकाल लेना खुश तो कर देता है लेकिन सिलसिला आगे नहीं जा रहा हो तो इस खुशी को बेअसर भी कर देता है। सिलसिला बनाए रखना भी ज़रूरी है। मैं इसी कोशिश में लगा था। हालाँकि, इन कोशिशों के बावजूद बच्चे बहुत मोटी-मोटी बातें ही जान-समझ पा रहे थे, पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तक के मुताबिक उनसे नक्शों के ज़रिए जितनी और जिस तरह की समझ बनने की उम्मीद की जा रही थी, उससे बात अभी काफी पीछे थी। मैं भी कुछ समझ नहीं पा रहा था।

हालाँकि, कभी-कभी यह भी लगता था कि बच्चे शायद गुणात्मक रूप से अपनी पहली कोशिश में इतना ही सीखते हैं या सीख सकते हैं। उनसे एकसाथ पूरा-का-पूरा या सबकुछ सीख-समझ लेने की उम्मीद नहीं की जा सकती! की जानी भी नहीं चाहिए! बच्चा अगर इतिहास-भूगोल भी सीखेगा-समझेगा तो यह इसी तरह से होगा। गति थोड़ी-बहुत कम-ज़्यादा हो सकती है।

बहरहाल, बच्चों ने इस तरह से महाद्वीपों और मध्य प्रदेश एवं भारत के नक्शे बनाए। मध्य प्रदेश के नक्शे में उन्हें ज़्यादा मज़ा आया। खासकर देवास, इन्दौर, भोपाल, नर्मदा, कालीसिन्ध, क्षिप्रा जैसी अपने आसपास की चीज़ों को देख-पढ़कर।

"सर, इमें अपनों मानकुण्ड काँ हे?" (सर इसमें अपना मानकुण्ड कहाँ है?) छठी क्लास की एक लड़की ने पूछ लिया। यह मेरे लिए फिर एक समस्या थी। बच्चा सबसे पहले अपने से जुड़ी चीज़ों को ढूँढता है। उसके लिए किसी भी चीज़ की प्रामाणिकता तलाश करने का यह एक बहुत साधारण-सा ज़रिया होता है। बहरहाल, उस समय उस बच्ची के चेहरे पर जिज्ञासा थी। मेरी एक तरह से परीक्षा थी। मुझे एक सही या कहें कि सन्तोषजनक जवाब की दरकार थी जो तत्काल नज़र नहीं आ रहा था।

गनीमत थी कि वह उस नक्शे में अपना स्कूल या घर नहीं तलाश कर रही थी।

"नानी, अपनों मानकुण्ड इना नक्शा में नी हे!" (बिटिया, अपना मानकुण्ड इस नक्शे में नहीं है!)

"काय लेने नी हे! देवास, इन्दौर, उज्जैन तो हे!" (क्यों नहीं है! देवास, इन्दौर, उज्जैन तो हैं!) फिर वैसा ही संकट! जवाब में बड़ी-छोटी जगह, नक्शों के बड़े-छोटे होने जैसे तर्क तो दे सकता था लेकिन उसके इस सवाल का मेरे पास कोई तसल्लीबक्श जवाब नहीं था कि अगर उसका गाँव देवास ज़िले और मध्य प्रदेश में है तो फिर उस नक्शे में क्यों नहीं है! उसके मामा का गाँव क्यों नहीं है! हालाँकि, मैंने उसे देवास ज़िले का नक्शा लाकर उसका और उसके मामा का गाँव तो दिखा दिया, लेकिन उसके चेहरे पर टँगे मूल सवाल का वह एक तरह से कोई सीधा जवाब नहीं था। वह कतई सन्तुष्ट नहीं थी।

शिक्षण में सीमाएँ और उनके प्रभाव

मुझे लगता है, नक्शों के ज़रिए छोटी क्लासों में इतिहास-भूगोल पढ़ाते समय हर शिक्षक के सामने यह समस्या आती है। बच्चों के पास नक्शों को लेकर हमेशा ऐसे कुछ मौलिक सवाल होते हैं जिनके सन्तोषजनक जवाब शिक्षक के पास हर बार नहीं होते। सारी कोशिशों के बावजूद! और यह इस मामले में उनकी अपनी सीमा होती है। हालाँकि, इस तरह के अनुत्तरित सवालों का आगे चलकर क्या होता है, वे कहाँ चले जाते हैं या बच्चा किस तरह की प्रक्रिया के चलते अपने-आप उन्हें लेकर सन्तुष्ट हो जाता है – यह कभी शायद ठीक-से जाँचा-परखा नहीं गया। बच्चा जाने कितने-कितने अनुत्तरित प्रश्नों को अपने साथ लिए-लिए ही बड़ा हो जाता है। पता नहीं, आगे कभी उसे उन प्रश्नों के जवाब मिल पाते हैं या नहीं, या जीवनभर उसके भीतर के किसी तहखाने में दबे रह जाते हैं!

वैसे, जहाँ नक्शों के बगैर ही इतिहास, भूगोल जैसे विषय पढ़ाए जाते होंगे वहाँ तो शायद इस तरह के सवालों पर सोचने की ज़रूरत नहीं पड़ती होगी! हालाँकि, सवाल हो

सकता है कि तब बच्चा भू-आकृति आदि की अवधारणात्मक सोच किस तरह से विकसित कर पाता होगा! छात्र नियमित हो या प्राइवेट, बिना नक्शे या डायग्राम के क्या इस तरह की सोच बनाने और विकसित करने में उसे कोई परेशानी नहीं होती होगी? या इस तरह की चिन्ता व परेशानी से वह सर्वथा मुक्त होता होगा?

यह सवाल मुझे उस दिन ज़्यादा तीखे ढंग से महसूस हुआ जिस दिन मेरी हायर सेकेंडरी की बोर्ड परीक्षा में भूगोल के पेपर में बतौर पर्यवेक्षक ड्यूटी लगी। मैं उन दिनों कुछ समय के लिए एक हायर सेकेंडरी स्कूल में काम कर रहा था। तब तक दस धन (प्लस टू) वाला मौजूदा पैटर्न लागू नहीं हुआ था। बहरहाल, उस दिन परीक्षा में एक ही परीक्षार्थी था। प्राइवेट! भूगोल के प्रश्नपत्र में नक्शा भरने का प्रश्न भी आया था। अनिवार्य प्रश्न – विश्व का नक्शा जिसमें कुछ नदी, झील, शहर इत्यादि के अलावा हिन्द महासागर और हिमालय भी प्रदर्शित करने को कहा गया था। अपनी ड्यूटी करते हुए मेरा ध्यान गया कि उस परीक्षार्थी ने जहाँ हिमालय पर्वत अंकित किया जाना चाहिए था वहाँ हिन्द महासागर और हिन्द महासागर की जगह हिमालय अंकित किया है। ध्यान जाने पर मुझे हल्का-सा धक्का लगा। हालाँकि, पर्यवेक्षक की अपनी सीमाओं के चलते कह कुछ नहीं सकता था फिर भी यह देखना मेरे लिए परेशानी पैदा करने वाला तो था ही। क्योंकि उन दिनों हायर सेकेंडरी (ग्यारहवीं) होना शिक्षा विभाग सहित कई तृतीय श्रेणी सेवाओं की न्यूनतम प्राथमिक शैक्षणिक अहर्ता थी। बहरहाल, वह परीक्षार्थी अपने गलत-सलत नक्शे

सहित कॉपी जमा कर चला गया। आगे चलकर उसका क्या हुआ, पता नहीं! बहुत सम्भव है कि वह पास भी हो गया हो और किसी तरह शिक्षक भी बन गया हो। और कहीं इतिहास-भूगोल ही पढ़ा रहा हो। हम अन्दाज़ ही लगा सकते हैं कि वैसे में बच्चे किस तरह का इतिहास-भूगोल पढ़ रहे होंगे! यह सिर्फ एक फैंटसी या कल्पना नहीं है। ऐसा होना सम्भव है! क्योंकि ऐसा होता है।

करते हुए सीखना

मानकुण्ड स्कूल के बच्चों ने इस तरह के नक्शे तो बनाए ही, इसके अलावा अपनी कॉपी में प्रश्नोत्तर के साथ ज़रूरी जगहों पर छोटे-छोटे चित्र और नक्शे भी बनाए। नाइजीरिया की भौगोलिक बनावट, वनस्पति, ईरान की प्राकृतिक संरचना, जापान के शहर, टुण्ड्रा प्रदेश, मेहराब, मीनार, गुम्बद के चित्र, शिकारी मानव के औज़ार-हथियार, सिन्धु घाटी में मिली विभिन्न वस्तुओं के चित्र। उन्होंने अपनी किताबों में दिए तमाम नक्शों, चित्रों, तालिकाओं के ज़रिए अलग-अलग तरह की जानकारियाँ निकालने और तुलना करने का काफी अभ्यास किया। कक्षा में उन्हें यह सब करते देखना, एक बहुत ही खास तरह के सुखद अनुभव से गुज़रना होता था। जिसे करते हुए सीखना कहा जाता है, यह सब उसी का नमूना था। छोटे-छोटे डायग्राम, नक्शे और चित्र बनाने, तालिकाएँ भरने, तुलनाएँ करने और यह सब करते हुए आपस में चर्चा करने, लड़ने का यह फायदा था कि उनकी उस सबको लेकर अपनी ठीक-ठाक समझ बनती लग रही थी। इसके साथ-साथ, एटलस या अन्य बड़े नक्शों में भी उनके लिए इन जगहों एवं चीज़ों को पहचान पाना थोड़ा-बहुत आसान होता महसूस हो रहा था। और एक बड़े सन्दर्भ में चीज़ों-जगहों को देखने-समझने का एक कामचलाऊ रास्ता उनके लिए कुछ-कुछ तैयार होता दिख रहा था।

जबकि वह सब शुरू करते समय खुद मुझे इसका अन्दाज़ा नहीं था। मैं तो सिर्फ बात को ज़्यादा साफ करने और समझ में आ सकने लायक बनाने के लिए वह सब कर रहा था। एक तरह से मूल चीज़ के पूरक या विस्तार के रूप में। लेकिन देख रहा था कि उनसे बच्चे कही गई बात को ज़्यादा गहरे में जाकर देख पा रहे हैं। कभी मैंने अपनी ग्यारहवीं क्लास की इतिहास-भूगोल की कॉपियों में इस तरह का काम किया था। बहुत सारे छोटे-छोटे नक्शे, तालिकाएँ, चित्र बनाने का काम। उनसे कुछ चीज़ों की प्राथमिक एवं बुनियादी समझ भी बनी थी। वही अभ्यास और अनुभव पढ़ाते समय अब शायद प्रेरणा का काम कर रहा था। कभी-कभी अपना ही किया हुआ आगे चलकर अपने लिए ही प्रेरणा का काम करने लगता है।

समय, संसाधन व शिक्षण की जद्दोजहद

बेशक, इन सब में या यह सब करने में समय अधिक खर्च होता था। परीक्षा के बिलकुल नज़दीक आने तक पढ़ना-पढ़ाना चलता रहता था। बच्चों पर इसका शायद थोड़ा-बहुत नकारात्मक दबाव भी बनता होगा। खासकर, आठवीं बोर्ड की परीक्षा देने वाले छात्रों पर। बोर्ड की परीक्षा आम तौर पर स्थानीय परीक्षाओं से पहले मार्च में हुआ करती थी। ज़ाहिर है कि इससे पढ़ाई के 10-15 दिन और कम हो जाते थे इसलिए परीक्षाओं को ध्यान में रखने से अन्य विषयों के कोर्स अक्सर जल्दी या वक्त पर खत्म हो जाते थे। सामाजिक अध्ययन का नहीं हो पाता था। पढ़ना-पढ़ाना चलता रहता था। इससे मैं भी थोड़ा-सा दबाव में आ जाता था। कभी-कभी लगने लगता था कि इस तरह से पढ़ाने की वजह से फैलाव कुछ ज़्यादा ही हो रहा है। शायद अनावश्यक भी।

धरातल की संरचना समझने-समझाने का एक बेहतर तरीका त्रि-आयामी नक्शे हो सकते थे, इस बारे में पहले चर्चा हो चुकी है। इन नक्शों के ज़रिए धरातल की अलग-अलग ऊँचाई, गहराई, मैदान, ढाल इत्यादि को अच्छी तरह समझा जा सकता था। सिर्फ देखकर ही नहीं बल्कि अँगुली फेरकर। ये रंगीन भी थे। ऐसे में धरातल की ऊँचाई और रंगों का उनसे रिश्ता और ठीक-से समझने में मदद मिलती थी। समझाना ज़्यादा आसान हो जाता था। लेकिन थोड़ी-सी दिक्कत यह थी कि इन्हें दीवार पर टाँगकर नहीं देखा-समझा जा सकता। समझ गड़बड़ाती है। यूँ भी, जैसा पहले कहा था, नक्शा सही तरह से दीवार पर टाँगकर नहीं, फर्श पर रखकर ही समझा जा सकता है। त्रि-आयामी नक्शों को इस तरह से देखने पर तो बात और भी आसान हो जाती है। इस सिलसिले में मैंने पहले सेन्धवा के स्कूल में ज़मीन पर बनाए गए भारत के विशाल त्रि-आयामी नक्शे का भी ज़िक्र किया था। इसी के चलते त्रि-आयामी नक्शों की उपयोगिता को जाना था।

हालाँकि, इस तरह के नक्शे खासकर बड़े आकार के नक्शे काफी महँगे थे। इन सभी नक्शों को खरीदना एक बहुत ही छोटे स्कूल की क्षमता में नहीं था। वैसे भी, सभी महाद्वीपों, भारत और मध्य प्रदेश के प्राकृतिक एवं राजनैतिक नक्शे यानी दो-दो नक्शे और ग्लोब इत्यादि खरीदने पर स्कूल काफी कुछ पहले ही खर्च कर चुका था। अन्य ज़रूरी खर्च अभी बाकी थे। ऐसे में किताब के आकार का भारत का सबसे छोटा प्राकृतिक नक्शा खरीदकर काम चलाया गया। इस नक्शे के ज़रिए धरातल की ऊँचाई आदि के बारे में करवाए गए अभ्यास का उल्लेख पहले ही कर

चुका हूँ, जिसके ज़रिए बच्चों को धरातल की संरचना समझने में आसानी हुई। भारत के उस अकेले उभरे हुए प्राकृतिक नक्शे से कई साल तक बच्चों को धरातल की संरचना समझने-समझाने का काम लिया।

शिक्षण के साथ-साथ सीखना भी

बच्चों के साथ काम करते-करते मेरी अपनी समझ भी थोड़ी-थोड़ी बेहतर होती चली गई। शायद यह सोचने-सिखाने की एक सहज-सामान्य प्रक्रिया है। बच्चों के साथ काम करते-करते हम भी सीखते हैं और बेहतर होते जाते हैं। मुझे लगता है कि एक शिक्षक का आजीवन सीखते रहने का सिलसिला इसी तरह से चलता है। मैं अपनी पढ़ाई के दिनों में कक्षा का एक औसत छात्र ही रहा था। मेरी असली पढ़ाई एक तरह से मेरे शिक्षक बनने के बाद से ही शुरू हुई थी। मैं कह सकता हूँ कि जितना मुझे मेरे शिक्षकों ने सिखाया, उससे चाहे बहुत कम ही सही, मेरे छात्रों ने भी सिखाया। उनके बीच काम करते हुए मैंने सीखा। इस सामाजिक अध्ययन को पढ़ाते हुए भी यही हुआ। इस त्रि-आयामी नक्शे के ज़रिए *कण्टूर* (समोच्च रेखाएँ) की मुश्किल अवधारणा को समझा पाने का रास्ता निकलता था। हालाँकि, भूगोल के निर्धारित पाठ्यक्रम में इन रेखाओं पर ज़ोर नहीं था।

इस त्रि-आयामी नक्शे के ज़रिए पहाड़, पठार, मैदान की अवधारणा को समझने-समझाने में तो आसानी हुई ही, ज़मीन का ढाल समझने में भी आसानी हुई! इसकी मदद से बच्चे नदियों के बहाव के अलग-अलग

दिशाओं में होने के कारण को समझ पाए। एक-आयामी नक्शे में वे देखते थे कि नर्मदा-ताप्ती पूर्व से पश्चिम की ओर बहती हैं तो कृष्णा, कावेरी, गोदावरी पश्चिम से दक्षिण-पूर्व। सोन और नर्मदा निकलती तो एक ही जगह से हैं लेकिन नर्मदा पश्चिम की तरफ जाती है तो सोन उत्तर की तरफ। और ब्रह्मपुत्र! वह तो कई बार अपनी दिशाएँ बदलती है। पश्चिम से पूर्व। फिर उत्तर से दक्षिण। फिर पूर्व से पश्चिम। फिर थोड़ी दूर उत्तर से दक्षिण। उन्हें एक-आयामी नक्शा दिखाकर इस तरह से दिशा परिवर्तन समझाना अत्यन्त मुश्किल था। यह भी कि दक्षिण के पठार से निकलने वाली सब नदियाँ एक ही दिशा में क्यों नहीं बहतीं! मैंने इसके लिए मानकुण्ड स्कूल के आसपास से बहने वाले खाल (नाले) के बहने की अलग-अलग दिशा के ज़रिए बहाव की इस विविधता को समझाने की कोशिश की थी। मानकुण्ड के आसपास से कई नाले निकलते थे। एक नाला स्कूल के पीछे से। दूसरा, गाँव में घुसते वक्त। तीसरा, स्कूल के रास्ते पर से। इन सबकी बहने की दिशा अलग-अलग थी। इससे ज़मीन के ढाल और नदी-नालों के बहने की दिशा के बीच के सम्बन्ध को समझाने में मदद तो मिली थी लेकिन बड़े स्तर पर यह समझाने में मुश्किल हुई। त्रि-आयामी नक्शे से यह काम आसानी-से हो गया था। नदी-नालों के बहाव का सिद्धान्त एक बार समझ लेने के बाद फिर अन्य महाद्वीपों में बहने वाली नदियों के बारे में भी यह समझाना आसान हो गया था। यह सब करते-समझते ही यह भी समझ में आया कि जिन बातों को पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तक और शिक्षक द्वारा बहुत आसान या सहज समझा जाता है, वह सब बच्चों के स्तर पर कितना मुश्किल हो सकता है।

प्रकाश कान्त: हिन्दी से एम.ए. और रांगेय राघव के उपन्यासों पर पीएच.डी. की है। शीर्ष पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ एवं आलेख प्रकाशित। चार उपन्यास – *अब और नहीं, मक्तल, अधूरे सूर्यों के सत्य, ये दाग-दाग उजाला;* कार्ल मार्क्स के जीवन एवं विचारों पर एक पुस्तक; तीन कहानी संग्रह – *शहर की आखिरी चिड़िया, टोकनी भर दुनिया, अपने हिस्से का आकाश,* संस्मरण – *एक शहर देवास, कवि नईम और मैं,* और फिल्म पर एक पुस्तक – *हिंदी सिनेमा: सार्थकता की तलाश* प्रकाशित हो चुकी हैं। लगभग 30 वर्षों तक ग्रामीण शालाओं में अध्यापन।

सभी चित्र: भाग्यश्री: प्रकृति प्रेमी, शिक्षा कर्मी, स्वतंत्र चित्रकार और फोटोग्राफर हैं। रियाज़ अकैडमी ऑफ इलस्ट्रेटर्स, भोपाल से चित्रण का कोर्स किया है। *एकलव्य* संस्था में कुछ वर्षों तक काम करने के बाद, वे इन दिनों अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, खरगोन, मप्र में रिसोर्स पर्सन के रूप में कार्यरत हैं। उनकी कला और काम, बच्चों की कल्पनाओं से प्रेरित हैं और ज़मीन से जुड़ी कहानियाँ कहने की कोशिश करते हैं।

यह लेख *एकलव्य* द्वारा प्रकाशित पुस्तक *सामाजिक अध्ययन नवाचार* से साभार।

ग्रीन थाई करी

अस्फिया

जर्मनी में रात के 10 बज रहे थे और इंडिया में सुबह के ढाई। कुछ दो घण्टे पहले बहुत मेहनत करके मैंने खुद को अपने हॉस्टल से बस्ते जैसा उठाया था। बहुत बोर होने के बाद मैंने तय किया था कि मैं शहर के चौक बाज़ार में कुछ समय बिताऊँगी। जब तापमान तीन डिग्री से कम हो और आपके पास हीटर हो, तो कमरे से बाहर जाने की कल्पना कोई सच्चा जर्मन ही कर सकता था। खैर, मैंने खुद को अँधेरा होने से पहले से मनाना शुरू कर दिया था कि मैं उस दिन बाहर निकलूँगी और थोड़ा शहर घूमकर आऊँगी।

पराए देश में ज़िन्दगी के रंगों की खोज एक बेहद जटिल काम है।

मैंने सबसे पहले अपना सफेद रंग वाला बॉडी वॉर्मर पहना, उसके ऊपर जींस और स्वेटर, और फिर उसके ऊपर कड़कड़ाती ठण्ड से बचने के लिए एक जैकेट। मुझे याद है, जब मैं

पहली बार मसूरी गई थी, ठण्ड के मारे केम्पटी फॉल के बगल में बैठ के रोने लगी थी। ठण्ड बर्दाश्त कर पाना और उसमें अपने दिमाग का इस्तेमाल कर पाना, मुझे आठ साल बाद भी उतना ही मुश्किल लग रहा था।

बाहर निकलने के लिए तैयार होते हुए, मैं अपने दिमाग में योजना भी बनाती जा रही थी कि चौक बाज़ार में क्या करूँगी। मेरा प्लान था कि मैं अपने हॉस्टल के पास वाले स्टेशन से ट्रैम पकड़ के डोर्म प्लत्ज़ जाऊँगी और वहाँ से चलकर अपने पसन्दीदा डोनर कबाब की दुकान, इब्रीस जाऊँगी।

जर्मनी आए मुझे लगभग पाँच हफ्ते हो चुके थे। मैं थुरिनजिया राज्य की सरकार द्वारा बनाए गए स्टूडेंट रेज़िडेन्स में तीन अन्य औरतों के साथ रह रही थी। अब हमारी ठीक-ठाक दोस्ती हो चुकी थी पर शुरुआती दिनों में चीज़ें काफी सुस्त थीं। हम हफ्ते में एक बार - जिस दिन सबके प्लान सेट हो जाएँ, साथ बैठकर कुछ खाते या टीवी देखते थे। बाकी के दिनों में बस हल्का हैलो-हाय करते- "आज कितनी ठण्ड है; अरे! धूप ही नहीं निकली; हवा बहुत तेज़ है; रशिया ने यूक्रेन पर बम फेंक दिया; धूप कब आएगी..."। मैं तब तक किसी के दोस्ती के दायरे में नहीं थी।

अपने शुरुआती दिनों में मैंने बहुत समय जर्मनी के सोशल इंटरैक्शन के नियमों को समझने में लगाया था - कब किसे फोन कर सकते हैं, कब कोई दोस्त बनता है, दोस्तों से मिलने का अपॉइंटमेंट कब लेना ठीक होगा, और कितना मिला जाए या बात की जाए कि बाहर देश में सहजता बनी रहे। नए देश की नई अपेक्षाएँ थीं मुझ पर।

मैं डोर्म प्लत्ज़ पहुँचने तक खुद के निर्णय को कोसने लगी थी, हड्डियों के साथ-साथ मेरी रूह भी काँप रही थी। मैं सोच रही थी कि ठण्ड से मेरा क्या बैर? उस दिन के दो-तीन महीने बाद मुझे एक दोस्त के दोस्त ने टोका कि जर्मनी की ठण्ड से बचने के लिए मैं जो जैकेट पहनकर घूमती हूँ, वो दरसल बारिश की जैकेट है। जर्मनी में एक कहावत है- "es gibt kein schlechtes Wetter, nur falsche Kleidung", मतलब कि बाहर ज़्यादा ठण्ड नहीं होती, बस हमने ढंग के कपड़े नहीं पहने होते। उस दिन के बाद मुझे अन्दाज़ा लगा की यह बैर नहीं, जानकारी का अभाव था। वो जैकेट मैंने अपने एक दोस्त से उधार माँगी थी। भोपाल के इज्तिमे से ली हुई जैकेट जर्मनी में बारिश की जैकेट निकली, ठण्ड की नहीं!

हवा वाली तेज़ ठण्ड की जैकेट अलग होती है, बारिश-ठण्ड की अलग, और पतझड़ वाली ठण्ड की जैकेट अलग!

खैर, तब तक मैंने उसी जैकेट में अपने शुरुआती बेहद मुश्किल और कन्फ्यूज़िंग दिन बिता दिए थे। डोर्म

प्लत्ज़ से इब्रीस डोनर कबाब की दुकान ज़्यादा दूर नहीं थी, मैं 15 किमी/घण्टा की हवा से लड़ते हुए तकरीबन पन्द्रह मिनट में वहाँ पहुँची।

मेरा सारा ध्यान यही सोचने में लगा हुआ था कि मैं आज क्या खाऊँगी। मैं जैसे-जैसे आगे बढ़ती, बेचैनी भी बढ़ती गई। मुझे बात करके ऑर्डर देना था, जर्मन में - "eine doner kebab", वो भी अकेले। मैं इससे पहले सिर्फ अपनी फ्लेटमेट के साथ वहाँ आई थी और उसने ही मेरा ऑर्डर दिया था।

एरफर्ट मध्य जर्मनी का बहुत ही खूबसूरत शहर है। कहते हैं, दूसरे विश्व युद्ध में जो चन्द शहर तबाह होने से बच गए थे, उनमें से एक एरफर्ट भी था। रंग-बिरंगे कार्टून वाले घर, जैसे मैं बचपन में बनाती थी, वहाँ हर जगह देखने को मिलते। बस, वहाँ अँग्रेज़ी बोलने और समझने वाले लोग मुझे सिर्फ यूनिवर्सिटी में ही टकराए थे।

इब्रीस में यह अच्छा था कि उन्होंने खाने की हर डिश को एक कोड दिया था, जैसे मेरा पसन्दीदा हलुमी वाला डोनर S8 था। इस बार भी मैं S8 ही खाना चाहती थी।

काउंटर पर दो आदमी काम कर रहे थे और आपस में अरबी में बात कर रहे थे। मैं लाइन में कुछ 5-7 मिनट खड़ी रही, जैसे-जैसे लाइन छोटी होती जाती, मैं अपने डायलॉग की लाइन मन में दुहराती रहती, "eine S8, yogurt sauce"। बीच-बीच में यह सोचकर भी बेचैन होती कि अगर कुछ और बात करनी पड़ी तो मैं क्या करूँगी।

मेरा नम्बर आने पर उन दो अरबी आदमियों में से एक ने मुझ से जर्मन में पूछा, "तुम्हें क्या चाहिए?" - ऐसा मैंने अनुमान लगाया। मैंने इशारे से बोर्ड पर लिखे S8 की तरफ उँगली दिखाई और सिर्फ S8 बोला। फिर उन्होंने कुछ और पूछा और मैंने लपककर बोला, "yogurt sauce." उसके बाद मुझे कुछ बोले बिना वो मेरे पीछे लगे एक आदमी से जर्मन में बात करने लगे।

अपने ऑर्डर का इन्तज़ार करते हुए मेरी नज़रें हमेशा की तरह दुकान की टाइल्स को निहार रही थीं। नीले-सफेद रंग की बेहद खूबसूरत टाइल्स उन्होंने अपनी दीवारों पर एक मोटी-सी पट्टी में लगा रखी थीं। ऐसी टाइल जैसी मस्जिद के गुम्बद में होती हैं। उनको निहारते हुए मैं वक्त काटने लगी। मेरा प्लान डोनर पैक करवा के हॉस्टल जाकर कुछ देखते हुए खाने का था।

पर फिर मेरी नज़र उनके फ्रिज पर पड़ी, मैंने तय किया कि मैं आज वहीं बैठ के फैंटा कोल्ड ड्रिंक पीते-पीते डोनर खाऊँगी। उस वक्त इस ख्याल ने मुझे बेहद खुशी दी। फ्रिज की तरफ काउंटर पर एक दूसरा आदमी था, मैंने फ्रिज की तरफ इशारा करते हुए उससे पूछा, "हाउ

मच?" आदमी समझदार था। उसने बिना बोले मुझे दो उँगलियाँ दिखाईं। मैं एक मिनी डिसिज़न मेकिंग प्रॉसेस में गई - सब मिलाकर कुल कुछ 12.80 यूरो, जो तकरीबन एक हज़ार रुपए के बराबर थे।

शुरू-शुरू में मैं खुद को ऐसे कैलकुलेशन से रोक नहीं पाती थी। बाद में मैंने रुपए में सोचना ही बन्द कर दिया था, मैं यूरो में ही सोचने की कोशिश करती थी। निर्णय लेते हुए लगा कि अगर भोपाल में होती तो इडली-वड़ा, लिट्टी-चोखा खाकर मुश्किल से 150 रुपए में सब निपटा देती। दिनभर में ये 1540वीं बार घर की याद आई होगी।

मैंने उस आदमी को इशारे से बोला – एक चाहिए, उसने भी इशारे से कहा – खोल के निकाल लो। मैंने बोतल निकाली और टेबल की तरफ बढ़ी, उस आदमी ने बोला, "इंडीयन?", मैंने पलटकर बोला, "येस", उसने बोला, "शाहरुख खान", मैंने बेहद खुश होकर बोला, "येस।" उसके बाद मैंने जो शब्द उसके मुँह से सुने, मैं एकदम चौंक गई, "आप कैसे हो?"

मेरी आँखें एकदम फैल गईं।

"बहुत अच्छी, आप कैसे हैं?" इसका जवाब उसने सिर्फ शाहरुख खान की फिल्मों के नाम से दिया। मैंने उससे इंग्लिश में बात करने की कोशिश की पर नाकाम रही। यह वाकया मेरे अभी तक के दिन की महत्वपूर्ण हाइलाइट थी।

मेरा ऑर्डर आ चुका था। उन्हें एक स्माइल देकर मैं अपनी टेबल पर जा बैठी और डोनर कबाब जल्दी-जल्दी कोल्ड ड्रिंक के साथ कुछ ही मिनटों में निपटा दिया।

* * *

मैं अब इब्रीस से बाहर निकल चुकी थी और चलते-चलते डोर्म प्लत्ज़ की तरफ जा रही थी। ट्रैम स्टेशन पहुँची तो चौराहे की घड़ी में 10 बज चुके थे। ट्रैम कुछ 15 मिनट में आने वाली थी, चलते-चलते मैं थक गई थी तो स्टेशन की बेंच पर बैठ गई। मुझे बैठे कुछ ही वक्त गुज़रा होगा कि दो जर्मन आदमी मेरे पास आए और मुझसे बात करने लगे। मैंने उन्हें समझने और जवाब देने की कोशिश भी नहीं की और बस "नो दाउच" (नो जर्मन) बोलकर बैठी रही। पर वो दोनों फिर भी बोलते जा रहे थे। मुझे लगा कुछ ज़रूरी बात कह रहे होंगे, तो मैंने फिर उनकी तरफ देखते हुए कहा, "ओन्ली इंग्लिश।"

उनके शरीर का हावभाव कुछ ज़हीन नहीं था। मैंने अनुमान लगाना शुरू कर दिया था कि उन दोनों ने काफी शराब पी रखी होगी। ऐसे हालात में मेरा मुख्य दाव था जम जाना, फ्लाइट और फाइट के बीच का फ्रीज़ रिस्पॉन्स।

जब तक मैं मन में चिल्लाती रही, "उठो, हटो वहाँ से", एक औरत ने फर्राटेदार जर्मन में उन दोनों आदमियों को कसकर डाँट लगाई।

उस औरत और उन दो शराब पिए हुए आदमियों के बीच कुछ सेकण्ड तक गहमा-गहमी चलती रही। वो दोनों आदमी इस औरत पर चिल्लाते और यह औरत डाँटकर उनको भागने का इशारा करती। मैं बैठी यह सब देख रही थी कि तभी उस औरत ने मुझे अपने साथ चलने को कहा और स्टेशन के दूसरे छोर पर ले गई। उसे अँग्रेज़ी आती थी।

"मैं शर्मिन्दा हूँ कि ऐसा हुआ, आइ ऐम सो सॉरी।"

"अरे नहीं-नहीं, तुम्हारा बहुत शुक्रिया, मैं काफी डर गई थी।"

"वो जाहिल लोग तुम्हें परेशान कर रहे थे, मैं ऐसी चीज़ें बिलकुल बर्दाश्त नहीं कर सकती।"

"मुझे समझ में ही नहीं आया कि वो लोग क्या कहना चाह रहे थे, नहीं तो मैं वहाँ से हट जाती।"

"वो टुच्ची बातें कर रहे थे। ये लोग ऐसे ही करते हैं। मैं दूर से देख रही थी कि वो क्या कर रहे हैं, फिर मुझसे रुका नहीं गया।"

"थैंक यू सो मच।"

जिस तरह से उस औरत ने मुझे गुण्डों से बचाया था, वो मेरी हीरो थी।

मुझे जो ट्रैम पकड़नी थी, उसे भी वही ट्रैम पकड़नी थी, यह जानकर

मुझे अन्दर-ही-अन्दर बेहद सुकून मिला। ऐसा लगा कि अब मैं उसके साथ हूँ तो मुझे कुछ नहीं होगा, मैं सेफ हूँ। ट्रॉमा और शॉक जकड़ा मेरा बदन अब थोड़ा रिलैक्स हो रहा था।

"अभी इतनी रात भी नहीं हुई है, पर ठण्ड की वजह से सब खूब सुनसान हो जाता है।"

"हाँ, इसीलिए मैं सोच रही थी कि ट्रैम से हॉस्टल जाऊँ।"

"इन लोगों से शराब पचती नहीं।"

मैंने मन-ही-मन सोचा, काहे का यूरोप, काहे का विकसित देश।

"क्या तुम इंडिया से हो?"

"हाँ, और तुम?"

"मैं डच हूँ, मेरी माँ जर्मन हैं इसलिए मैं जर्मन समझ लेती हूँ और काम भर का बोल लेती हूँ।"

"पर तुमने उन लोगों को क्या मस्त फटकार लगाई, बचा लिया मुझे, थैंक यू।"

ट्रैम आ चुकी थी, उसे मेरे स्टेशन से दो स्टेशन आगे जाना था। ट्रैम में जहाँ सीट फोल्ड हो जाती है, हम वहाँ पहुँचे। मैंने एक सीट नीचे की और बैठ गई, उसने अपनी व्हीलचेयर मेरे बगल में सेट कर ली। हम लगभग पन्द्रह मिनट साथ थे और उस बीच हम नॉन-स्टॉप बतियाते रहे।

* * *

मुझे पता चला कि मेरी ही तरह वह भी एरफर्ट कुछ ही महीनों के लिए आई है। वो वहाँ बास्केट बॉल के नेशनल्स की प्रैक्टिस करने आई थी। जब उसने मुझे यह बताया तो मेरे मन में बहुत तेज़ कुलमुली हुई, बास्केट बॉल और व्हीलचेयर! मेरे सामने खूब सारे सवाल नाचने लगे। पर मैंने खुद को रोका। सब कुछ पहली बार में बोलना या पूछना

फोटो: अस्फिया

अशिष्टता हो सकती थी, ऐसा मैंने सोचा, और सेंसिटिव होना भी तो कुछ होता है। पर मैंने तय कर लिया था कि मैं उससे और मिलना चाहती थी।

क्यूँकि वो एरफर्ट में तीन महीने के लिए ही थी, उसके जान-पहचान वाले वहाँ कम थे, मेरी तरह।

मेरा स्टेशन आने ही वाला था। उसने मेरा व्हाट्सऐप नम्बर माँगा और हमने तय किया कि आने वाले वीकेंड पर हम साथ में खाना खाने जाएँगे। मैं उसका नम्बर सेव करते हुए अपने स्टेशन - बाउमाशस्ट्रस्से पर उतरी, फोन में उसका नाम लिखा - जित्सके।

मैं मन में लड्डू फोड़ते हुए अपने हॉस्टल पहुँची। मैं बेहद खुश थी कि आने वाले वीकेंड मेरे पास भी एक प्लान था, मुझे किसी ने इन्वाइट किया था।

कपड़े वगैरह बदलकर मैंने रूम हीटर चालू ही किया था कि जित्सके का मैसेज आया, "मैं अपने घर पहुँच गई हूँ, क्या तुम भी आराम-से अपने हॉस्टल पहुँच गईं?"

"ओह! बढ़िया तुम आराम-से पहुँच गईं। मैं भी अपने घर आराम-से आ गई हूँ। आज के लिए बहुत शुक्रिया, तुमने जान बचा ली। गुड नाइट।"

"तुम्हें मुझे थैंक यू बोलने की ज़रूरत नहीं, मैंने वही किया जो मुझे करना था। स्वीट ड्रीम्स।"

* * *

वो दिन आ गया जब मुझे जित्सके से मिलना था। शाम हुई, मैंने कपड़े लादे और ठीक सात बजे पहुँच गई - कॉग्निटो होटल। हमें कहाँ मिलना है और कितने बजे, सुबह ही व्हाट्सऐप पर बात कर ली थी।

कॉग्निटो एक थाई खाना परोसने वाली जगह थी। मैं सोचकर आई थी कि मिलने-मिलाने में पैसे खर्च होते ही हैं तो ज़्यादा टेंशन नहीं लूँगी। लोग बोलते हैं न 'पैसा हाथ का मैल है' पर मुझे तो पैसा बदन का खून लगता है।

जित्सके पहले ही वहाँ पहुँच चुकी थी। मैंने फोन में टाइम देखा, सात बजकर तीन मिनट हो रहे थे। हमने हाथ मिलाया, एक-दो मिनट अपने हाल-चाल और मौसम की बात की और उसके बाद यह चयन करना शुरू किया कि हम कौन-सी टेबल ले सकते हैं। मैंने देखा कि इतनी ठण्ड में भी बाहर की टेबलों पर कुछ लोग बैठे थे, अपनी कुल्फी जमवाने के लिए। सिहरन भरते हुए मैंने दूसरी तरफ नज़र दौड़ाई तो एक टेबल दिखी जो अन्दर थी पर वहाँ से बाहर की सड़क और लोग दिख रहे थे। मैंने जित्सके की तरफ देखा, वो भी उसी टेबल को देख रही थी।

हमने काउंटर पर ऑर्डर दिया - दो ग्रीन थाई करी बाउल। जब तक वो तैयार हो रहे थे, ड्रिंक्स वाले

काउंटर पर मैंने गुडहल के फूल की चाय और जित्सके ने हॉट चॉकलेट जैसा कुछ ऑर्डर किया।

एरफर्ट में खाने की सभी जगहों पर जर्मन भाषा में मेन्यू होता है, तो मैं कुछ शब्द पकड़कर बड़ी सावधानी से ऑर्डर देती थी। कई बार ऐसा हुआ कि कल्पना कुछ करती और आता खाने को कुछ और ही। इसी सिलसिले में मैंने एक बार एक खूब तला हुआ ब्री चीज़ और आलू खाया था, वो भी 800 रुपए देकर!

मैं एक बार में अपनी ड्रिंक और खाना लेकर टेबल पर जा पहुँची, जित्सके ने दो चक्कर लगाए। मैंने उसके मदद माँगने का इन्तज़ार किया। उसने खुद से दो कुर्सियाँ हटाईं और अपने लिए जगह बनाई।

फिर शुरू हुआ खाना और बातों का सिलसिला।

सबसे पहले हमने जानना चाहा कि हम दुनिया में कहाँ से हैं - माने शहर या इलाका। यह समझने के लिए हमने एक-दूसरे के घर गूगल मैप में देखे। उसने एम्सटर्डम के पास मुझे ज़्वॉले दिखाया जहाँ वो बड़ी हुई थी। मैंने दिल्ली से ज़ूम करते हुए उसे भोपाल दिखाया, जहाँ मैं कुछ साल से रह रही हूँ। न ही उसे भोपाल के बारे में पता था और न ही मुझे ज़्वॉले के बारे में, पर हमें उस दिन पता चला कि दोनों ही जगहें नदी और झीलों से भरी हैं। उस एक पल हमने अपने-अपने घरों को याद किया।

मुझे यह समझ आया कि हम दोनों ही एक-दूसरे के बारे में जानने के लिए काफी उत्साहित थे। हमारी दुनिया इतनी अलग थी कि हर बात में हमें मज़ा आ रहा था। एक-दूसरे के परिवार के बारे में, काम के बारे में, रुचियों के बारे में - हमें एक-दूसरे के बारे में सब कुछ जानना था।

* * *

बातों-बातों में जित्सके ने मुझे बताया कि 2022 के Paralympics में उनकी टीम ने 'वीमेन व्हीलचेयर बास्केट बॉल' में गोल्ड मेडल जीता है। यह सुनकर मैं दंग रह गई। मुझे लगा कि किसी एक व्यक्ति से जितना इम्प्रेस हुआ जा सकता है, मैं जित्सके से उतना इम्प्रेस हो चुकी हूँ या शायद उससे भी ज़्यादा। मैं ओलम्पिक के गोल्ड मेडलिस्ट के साथ बैठी थी, उसने इतनी सहजता से मुझे यह बात बताई जैसे कोई आम बात हो।

मेरे दिमाग में सब रिवाइंड होने लगा - जित्सके ने मुझे गुण्डों से बचाया, मुझसे दोस्ती की, अपना नम्बर दिया, मुझे डिनर पर बुलाया और वह एक विश्व स्तरीय महिला खिलाड़ी है।

अब मैंने चीज़ों को सच मानना बन्द कर दिया था। क्या हो रहा था मेरे साथ - क्या ऐसा मुमकिन था? मैं मन ही मन बेहद खुश थी - यह सदी में एक बार होने वाली घटना थी। मैंने

सोच लिया था कि मैं इसके बारे में एक दिन सबको बताऊँगी। मुझे नहीं पता था कि कहानी अभी खत्म नहीं हुई थी।

मुझे ऐसा लग रहा था कि मैं जो भी बोलूँगी, छोटा और गैरज़रूरी ही सुनाई देगा पर मैंने अपना संयम बनाए रखा और उससे पूछा कि वो आजकल किस मैच की तैयारी कर रही थी।

पता है, उसने क्या कहा!

उसने बताया कि वो हाल ही में International Paralympics Committee, IPC की चेयरपर्सन बनी है तो थोड़ा उसी में व्यस्त है। मैं ओलम्पिक्स की चेयरपर्सन के साथ डिनर कर रही थी। क्या यह वही समय था जब मुझे खुद को पिंच करके देखना था कि मैं सपना तो नहीं देख रही? मैंने पूरी कोशिश की कि मैं चौंकी हुई न रहूँ

पर नाकाम रही। मेरी आँखों में सेलिब्रिटी से मिलने वाली चमक भरने लगी थी, मैं बहुत कुछ जानने के लिए उत्सुक थी और अपने ईगो को कम करना चाहती थी। शायद जित्सके यह बात समझने लगी थी, उसने मेरे द्वारा उसके ऊपर चढ़ाया हुआ अटेंशन अब मेरे ऊपर डालने की कोशिश की।

उसने मुझसे पूछा कि मैं कैसे कूड़े और औरतों के बीच के रिश्ते को साथ में देखती हूँ। मेरा रिसर्च टॉपिक उसके लिए काफी नया और दिलचस्प था। मैं अपने बारे में कुछ भी बात नहीं करना चाहती थी, पर फिर भी क्योंकि उसने पूछा था तो मैंने अपने रिसर्च के बारे में ऐसे बताया जैसे कि हर कोई यही काम करता हो।

"हाँ, औरतें समूहों में मिलकर कूड़ा बीनने जाती हैं और इन समूहों में दोस्ती और रिश्ते एक प्रमुख चीज़ है। कई स्कॉलर्स ने ऐसे समूहों की स्टडी की है।"

"ओह, मुझे नहीं पता था कि इसपर काफी रिसर्च की जा चुकी है।"

"सॉरी, मेरा वो मतलब नहीं था, मतलब एकेडेमिया में इसपर चर्चाएँ होती रहती हैं।"

मैंने मज़ाक करते हुए उससे कहा, "पर एकेडेमिया में IPC के चेयरपर्सन के बारे में ज़्यादा चर्चा मैंने नहीं सुनी।"

वो हँसने लगी।

"IPC काफी जटिल जगह है। इतनी सारी ज़रूरी बातें होती हैं पर कई बार हम एक ही मुद्दे पर अटक जाते हैं, जैसे कि आजकल यह बात चल रही है कि इस साल रूस को पैरालम्पिक गेम्स में शामिल करना है या नहीं।"

"ओह येस, यह तो काफी जटिल मामला है।"

"हाँ, कुछ लोगों का कहना है कि रूस का यूक्रेन को लेकर जिस तरह का रवैया है, हमें उसका बहिष्कार करना चाहिए, पर हमारे खेलों का तो मकसद ही है सभी देशों को साथ में लाना। मैं इसी असमंजस में हूँ आजकल।"

"बाप रे, यह तो बहुत ही कॉम्प्लिकेटिड सिचुएशन है। ऑल द वेरी बेस्ट।"

"शुक्रिया। देखो क्या होता है..."

"तुम्हें इन औरतों के समूह में कैसे रुचि हुई? मैंने पहले कभी भी इस तरह की पेचीदगी के बारे में नहीं सोचा, क्वाइट इंट्रेस्टिंग। तुम्हें तो बहुत मेहनत करनी पड़ती होगी।"

"हाँ, मैं ऐसी जगह से हूँ जहाँ इस तरह की रियलिटी को नज़रअन्दाज़ करना शायद मुश्किल है और इसके अलावा मैंने सोशल वर्क की पढ़ाई की है तो मेरी इन्द्रियों की ऐसी ट्रेनिंग ही है। पर अच्छी बात यह है कि मुझे रूस से जुड़े निर्णय नहीं लेने होते।"

इस बात पर हम ठहाके लगाकर हँसने लगे - यह सोचकर कि दुनिया कितनी विचित्र है और शायद उसे ह्यूमर ही बचा सकती है।

मुझे समझ में आया कि हम दोनों जो काम कर रहे थे वो हमारे लिए आम था पर सामने वाले के लिए काफी रुचिकर और सोचने के परे था। पर हम दो औरतों का मिलना और एक-दूसरे की दुनिया से जुड़ना एक एक्सपेरिमेंट जैसा ही था।

दुनिया में खेलों का महाराजा - ओलम्पिक्स - जो कि सिर्फ एक है, उसमें जो उनकी एकमात्र शीर्ष कमेटी है, उसकी एकमात्र चेयरपर्सन मेरे साथ ग्रीन थाई करी खा रही थी - जित्सके वाइसर, वर्ल्ड चैंपियन और IPC चेयरपर्सन।

यह बिलकुल एक सपना था।

अस्फिया: शोधकर्ता हैं और भोपाल में रहती हैं। दुनिया को उन्हें शोधकर्ता के लेंस से देखना बहुत पसन्द है। इन दिनों कहानियाँ और लेख लिखने में अपना समय बिता रही हैं।

सभी चित्र: नरेश पासवान: बिहार के मिथिला में एक दलित परिवार में जन्मे नरेश, मधुबनी मिथिला शैली के एक स्व-शिक्षित चित्रकार हैं। उनकी चित्रकारी के लिए उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय पहचान भी मिली है। अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस में उनकी कलाकृतियाँ नामित हुई हैं। उनकी चित्रकारी में हिन्दू पौराणिक कथाओं और राजा सलहेश की लोककथाओं के साथ-साथ प्रकृति और रोज़मर्रा की ज़िन्दगी के दृश्यों का चित्रण होता है। वर्तमान में, *एकलव्य* में एक फैलोशिप पर हैं।

नया प्रकाशन

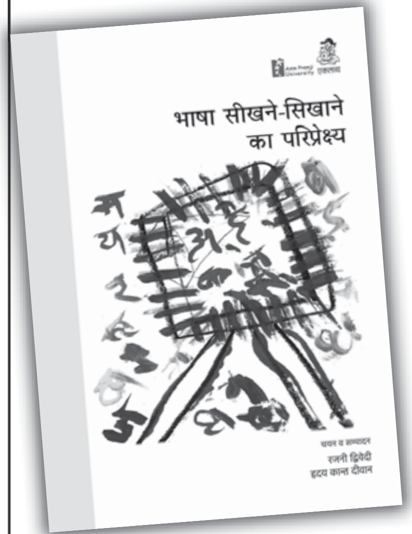

भाषा सीखने-सिखाने का परिप्रेक्ष्य

चयन व सम्पादन:
रजनी द्विवेदी, हृदय कान्त दीवान

मूल्य: ₹ 240.00

भाषा के साथ इन्सान के सम्बन्ध, शिशुओं द्वारा परिवेश से भाषा अर्जन, भाषा और उसके संरचनात्मक पहलुओं के बारे में समझ बच्चों को औपचारिक रूप से भाषा सीखने में मदद करने के प्रयास से जुड़े हैं और उसे प्रभावित करते हैं। पिछले सात दशकों में बच्चों को भाषा सिखाने के तरीकों व भाषा सीखने की उनकी क्षमताओं के बारे में सोचने के ढंग में व्यापक परिवर्तन आए हैं। इस परिवर्तन की झलक भारत के स्कूली शिक्षा से सम्बन्धित राष्ट्रीय दस्तावेज़ों में भी साफ तौर पर दिखाई देती है।

यह संकलन इस परिवर्तन और इससे जुड़े विमर्श को सरल भाषा में उदाहरणों के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। साथ ही, यह कक्षा में भाषा शिक्षण से जुड़े विविध परिप्रेक्ष्यों को भी हमारे सामने लाता है। भाषा सीखने के बारे में प्रचलित समझ और नीतियों की विवेचना करते हुए संकलन यह दिखाता है कि नए परिप्रेक्ष्य को आधार बनाकर कक्षा में भाषा शिक्षण कैसे हो सकता है और उसके लिए शिक्षकों को किस तरह से तैयार किया जाना चाहिए।

एकलव्य

एकलव्य फाउण्डेशन
जमनालाल बजाज परिसर, जाटखेड़ी, भोपाल - 462 026 (मप्र)
फोनः **+91 755 297 7770-71-72;** ईमेलः **pitara@eklavya.in**
www.eklavya.in | www.eklavyapitara.in

व्हाइट नॉइज़

डॉन दलीलॉ

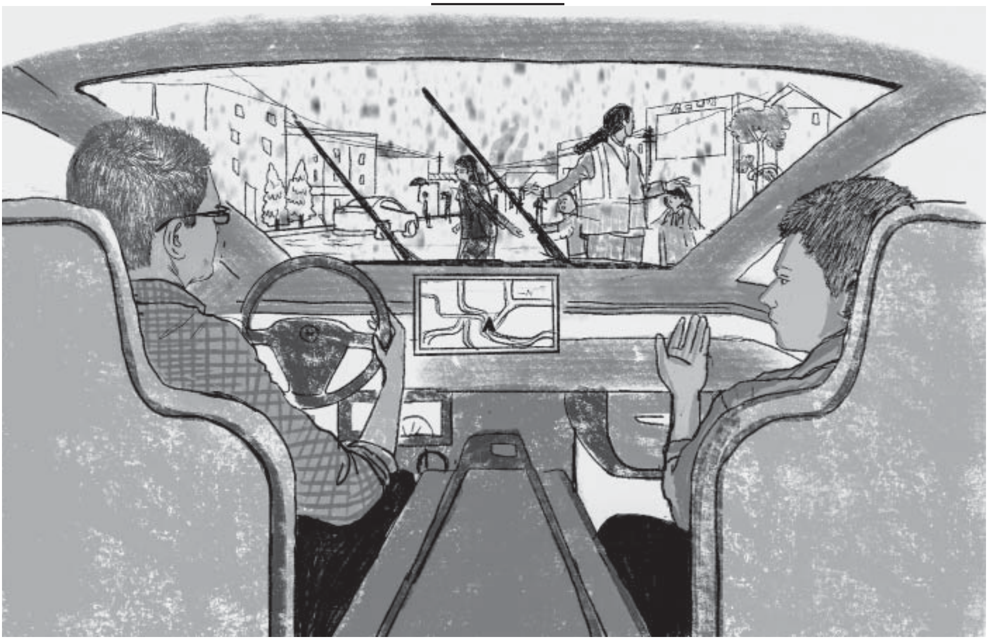

"आज रात बारिश होगी।"

"बारिश हो रही है," मैंने कहा।

"रेडियो में कहा था कि रात को बारिश होगी।"

बुखार और गले की खराबी से उभरने के बाद यह उसका पहला दिन था और मैं गाड़ी में उसे स्कूल ले जा रहा था। पीला स्टिकर लगाए एक औरत ट्रैफिक रोककर बच्चों को सड़क पार करवा रही थी।

"सामने का शीशा देखो," मैंने कहा। "बारिश है कि नहीं?"

"मैं तो बस आपको बता रहा हूँ कि घोषणा क्या हुई थी।"

"रेडियो में कुछ कहा गया तो इसका मतलब यह नहीं कि हम प्रत्यक्ष ऐन्द्रिक सबूतों में यकीन करना छोड़ दें।"

"ऐन्द्रिक सबूत? हमारी इन्द्रियाँ बारहा हमें सही की जगह गलत नतीजे पर ले जाती हैं। यह बात प्रयोगशाला में सिद्ध हो चुकी है। आप वो थियोरम्स (प्रमेय) नहीं जानते जिनमें कहा गया है कि कुछ भी ऐसा नहीं होता जैसा कि

वह दिखता है? हमारे ज़हन से अलग भूत, वर्तमान या भविष्य, कुछ भी नहीं होता है। गति के नियम दरअसल बड़ा छलावा हैं। आवाज़ से भी ज़हन धोखा खा जाता है। कोई आवाज़ न सुनाई पड़े तो इसका मतलब यह नहीं कि कुछ वजूद में नहीं है। कुत्तों को सुनाई पड़ जाता है। दूसरे जानवरों को भी और मुझे पक्का यकीन है कि ऐसी आवाज़ें भी हैं जो कुत्ते भी नहीं सुन पाते होंगे। पर वो लहरें बन हवा में मौजूद हैं। शायद वे कभी नहीं रुकतीं। और-और महीन-से-महीन होती जाती हैं। कहीं से आती हुईं।"

"बारिश हो रही है," मैंने पूछा, "या नहीं?"

"मैं नहीं चाहता कि इसका जवाब देना ही पड़े।"

"कोई तुम्हारे माथे पर बन्दूक ताने खड़ा हो तो?"

"कौन, आप?"

"कोई भी। बरसाती ट्रेंच-कोट और धुँधले चश्मे पहना कोई आदमी। तुम्हारे माथे पर बन्दूक तानकर पूछे, 'बारिश हो रही है या नहीं? बस, सच कह दो और मैं अपनी बन्दूक हटा लूँगा और अगली उड़ान से यहाँ से चला जाऊँगा'।"

"उसे कैसा सच जानना है? क्या उसे किसी और तारामण्डल में तकरीबन रोशनी की रफ्तार से सफर कर रहे किसी का सच जानना है? क्या वह किसी न्यूट्रॉन तारे का चक्कर काटते किसी का सच जानना चाहता है? ऐसे लोग हमें खुर्दबीन से देख पाते तो हम उन्हें दो फीट दो इंच लम्बे-से दिखते और हो सकता है कि आज की जगह पिछले कल बारिश हो रही होती।"

"उसने तुम्हारे माथे पर बन्दूक तानी हुई है। वह तुम्हारा सच जानना चाहता है।"

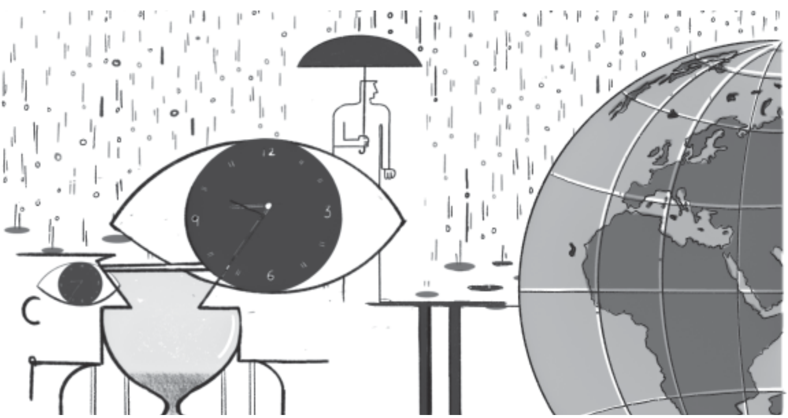

"मेरे सच की क्या कीमत? मेरा सच बेमानी है। क्या पता, वह बन्दा किसी और ही सौरमण्डल के किसी दीगर ग्रह से आया हो। क्या पता कि जिसे हम बरखा कहते हैं, वो साबुन कहता हो। जिसे हम सेब कहते हैं, वो बरखा कहता हो। तो मैं उसे क्या कहूँ?"

"चलो, उसका नाम फ्रैंक जे. स्मॉली है और वह सेण्ट लुइस शहर का रहने वाला है।"

"वह यह जानना चाहता है कि *अभी*, इसी पल बारिश हो रही या नहीं?"

"अभी और यहाँ बिलकुल।"

"अभी भी कुछ होता है क्या? हमारे कहते ही 'अभी' आकर गुज़र चुका होता है। मैं कैसे कह सकता हूँ कि अभी बारिश हो रही है, जब कि आपका तथाकथित 'अभी' मेरे कहते ही 'तब' हो चुका है?"

"तुम्हीं ने कहा था कि भूत, वर्तमान या भविष्य कुछ भी नहीं होता है।"

"वह बस क्रियाओं में ही है। वहीं ये हमें दिखते हैं।"

"बारिश संज्ञा है। यहाँ, ठीक इस जगह पर, अगले दो मिनटों में जब भी तुम सवाल का जवाब देना चाहो, बारिश हो रही है या नहीं?"

"ज़ाहिरा तौर पर चल रही गाड़ी में बैठकर ठीक इस जगह की बात कर रहे हैं तो मेरे खयाल से यही इस बातचीत की समस्या है।"

"हाइनरिख, मुझे बस जवाब दे दो, ओके?"

"ज़्यादा-से-ज़्यादा मैं बस अन्दाज़ा लगा सकता हूँ।"

मैंने कहा, "या तो बारिश हो रही है, या नहीं।"

"बिलकुल सही, मैं यही बात कहना चाह रहा हूँ। आप अन्दाज़ा भर लगा सकते हैं। एक ओर छः, दूसरी ओर आधा दर्जन लगाया।"

"पर भई, बारिश हो रही है।"

"आप आसमान में सूरज को घूमता देखते हैं। पर असल में आसमान में सूरज घूम रहा है या धरती घूम रही है?"

"मुझे यह तुलना पसन्द नहीं है।"

"आपको पक्का यकीन है कि बारिश ही हो रही है? आपको कैसे पता कि ये नदी के उस पार की फैक्ट्रियों (कारखाना) से आती सल्फ्यूरिक अम्ल की बूँदें नहीं हैं? आप कैसे जानते हैं कि यह चीन में छिड़े किसी जंग के नतीजतन मौसम की गड़बड़ नहीं है? आपको तो अभी और यहीं जवाब चाहिए। क्या आप अभी और यहीं यह सिद्ध कर सकते हैं कि ये बारिश की बूँदें ही हैं? मैं कैसे जानूँ कि जिसे आप बरखा कहते हैं, वह वाकई बरखा ही है? बारिश आखिर है क्या?"

"बारिश वह है जो आसमान से गिरती है और जिससे कि हम जिसे भीगना कहते हैं, हो जाते हैं।"

"मैं तो भीगा नहीं हूँ। आप भीगे हैं क्या?"

"वाह, वाह," मैंने कहा। "बहुत बढ़िया।"

"नहीं, नहीं, मैं संजीदगी से पूछ रहा हूँ। आप भीगे हैं क्या?"

"फर्स्ट-क्लास," मैंने उसे कहा। "अनिश्चितता, संजोग और विशृंखलता की जीत हुई। विज्ञान का सुनहरा दौर।"

"आप व्यंग्य करते रहें।"

"कुतर्की और बाल की खाल निकालने वाले लोगों की बेइन्तहा खुशी।"

"ठीक है, आप तंज कसते रहें। मुझे क्या।"

डॉन दलीलॉ: अमरीकी उपन्यासकार, लघु कथाकार, नाटककार, पटकथा लेखक और निबन्धकार हैं। उनके कार्यों में टेलीविज़न, परमाणु युद्ध, भाषा की जटिलताएँ, कला, डिजिटल युग का आगमन, गणित, राजनीति, अर्थशास्त्र और खेल जैसे विविध विषय शामिल हैं। सन् 1985 में देलाइलो को उनके उपन्यास *व्हाइट नॉइज़* के प्रकाशन ने व्यापक पहचान दिलाई और उन्हें उस कथा साहित्य के लिए 'राष्ट्रीय पुस्तक पुरस्कार' प्राप्त हुआ।

अँग्रेज़ी से अनुवाद: हरजिन्दर सिंह 'लाल्टू': सेंटर फॉर कम्प्यूटेशनल नेचुरल साइंस एंड बायोइन्फॉर्मेटिक्स, आई.आई.आई.टी., हैदराबाद में प्रोफेसर। प्रिंसटन यूनिवर्सिटी, न्यू यॉर्क, यूएसए से पीएच.डी.। सन् 1987-88 में *एकलव्य* के साथ यूजीसी द्वारा स्पेशल टीचर फैलोशिप पर हरदा में रहे। आप हिन्दी में कविता-कहानियाँ भी लिखते हैं।

यह जॉन देलाइलो के उपन्यास *व्हाइट नॉइज़* के छठे अध्याय में से एक हिस्सा (हाइनरिख और उसके पिता के बीच बहस) है।

सभी चित्र: प्रभाकर डबराल: पेशे से एक चित्रकार, प्रकृति प्रेमी, कहानीकार और डिज़ाइन शिक्षक हैं। लोगों की उत्पत्ति की कहानियाँ सुनना बहुत पसन्द करते हैं। *एकलव्य* की बाल विज्ञान पत्रिका *चकमक* के लिए स्वतन्त्र चित्रकारी करते हैं। समानुभूति, करुणा और आत्म-साक्षात्कार फैलाने में सहायक बनकर अपने जीवन को जीने लायक बनाना चाहते हैं।

सवालीराम

सवाल: कभी-कभी नम मिट्टी खोदने पर काफी गहराई में मेंढक मिल जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि वे वर्षा के बाद किन्हीं ठण्डी जगहों पर रहने चले जाते हैं। परन्तु वर्षा होने के तुरन्त बाद, वे इतनी जल्दी ऊपर कैसे आ जाते हैं? क्या बारिश होने का आभास उन्हें पहले ही हो जाता है?

– वंशिका, कक्षा-8, होशंगाबाद, म.प्र.

जवाब: कुछ छोटे-छोटे सवालों के ज़रिए इस सवाल के जवाब को समझने की कोशिश करते हैं।

• मेंढक ज़मीन के भीतर क्यों चले जाते हैं?

मेंढक शीत-रक्तीय जीव हैं, यानी उनका शरीर अपने तापमान को खुद नियंत्रित नहीं कर सकता। वे वातावरण के तापमान के अनुसार खुद को ढालते हैं। जब गर्मी बहुत अधिक हो जाए, सर्दी कठोर हो, या सतह सूख जाए, तो मेंढक अपने शरीर को सुरक्षित रखने के लिए ज़मीन के भीतर गहराई में चले जाते हैं। यह उनका प्राकृतिक अनुकूलन है।

गर्मियों के दौरान, जब मिट्टी की ऊपरी परतें तपती हैं और नमी लगभग समाप्त हो जाती है, तब मेंढक ज़मीन के नीचे ठण्डी और नम परतों की तलाश में उतरते हैं। वहाँ उनकी शारीरिक क्रियाएँ धीमी हो जाती हैं, ऊर्जा की बचत होती है और वे 'ग्रीष्मनिद्रा' की अवस्था में चले जाते हैं। इसी तरह, सर्दियों में वे 'शीतनिद्रा' में चले जाते हैं, क्योंकि

आसपास के वातावरण और ज़मीन की सतह का तापमान उनके शरीर के लिए बहुत कम हो जाता है। ज़मीन के भीतर तापमान अपेक्षाकृत स्थिर और अनुकूल होता है, जिससे उन्हें ठण्ड से राहत मिलती है। इसके अलावा, उनकी त्वचा अत्यधिक नाज़ुक और नमीयुक्त होती है। शुष्क हवा में अगर वे सतह पर रहें, तो उनका शरीर सूख सकता है – जो उनके जीवन के लिए खतरा बन सकता है। इसीलिए वे खुद को नम और सुरक्षित बनाए रखने के लिए गहराई में शरण लेते हैं।

• बारिश के आने से पहले मेंढक बाहर कैसे आ जाते हैं?

अक्सर देखा गया है कि बारिश शुरू होते ही या कई बार उससे पहले ही मेंढक सतह पर आ जाते हैं। यह अचानक नहीं होता बल्कि मेंढकों के पास (बहुत-से अन्य जीव-जन्तुओं की भाँति) वातावरण में होने वाले परिवर्तनों को महसूस करने की एक अनोखी क्षमता होती है। जैसे ही वायुमण्डलीय दबाव गिरने लगता है, हवा में नमी बढ़ती है और तापमान में हल्का बदलाव आता है, मेंढक इन संकेतों को अपनी त्वचा और इन्द्रियों के माध्यम से महसूस कर लेते हैं। उनकी त्वचा न केवल सांस लेने में सहायक होती है, बल्कि पर्यावरणीय संकेतों को समझने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

कुछ वैज्ञानिकों का मानना है कि मेंढक बारिश से पहले ज़मीन पर होने वाले कम्पन या वातावरण में मौजूद सूक्ष्म ध्वनियों को भी महसूस कर सकते हैं। यही नहीं, उनके शरीर में एक प्राकृतिक 'जैविक घड़ी' भी होती है, जो ऋतुओं और वातावरण में बदलाव के आधार पर सक्रिय होती है। मानसून के आसपास यह घड़ी उन्हें संकेत देती है कि बाहर निकलने और प्रजनन की तैयारी करने का समय आ गया है।

• जैविक घड़ी क्या होती है?

प्रकृति में हर जीव – चाहे वह मेंढक हो या कोयल, पेड़-पौधे हों या इन्सान – के अन्दर एक 'जैविक घड़ी' होती है। यह घड़ी शरीर की प्राकृतिक, आन्तरिक 24-घण्टे की चक्रीय प्रक्रिया है जो सोने-जागने के

सभी जीवधरियों (जन्तु और पौधे, दोनों) के शरीर में बहुत सूक्ष्म मात्रा में कुछ रसायन पाए जाते हैं जिन्हें हॉरमोन कहते हैं, जैसे थायरॉइड और प्रोलेक्टिन हॉरमोन। सूक्ष्म मात्रा में पाए जाने के बावजूद ये हॉरमोन शरीर में होने वाली सभी क्रियाओं का नियंत्रण करते हैं। ग्रीष्म और शीत निद्रा के दौरान जीवों में थायरॉइड और प्रोलेक्टिन हॉरमोन की कमी हो जाती है जिससे शरीर की क्रियाएँ धीमी हो जाती हैं और शरीर के लिए भोजन तथा ऑक्सीजन की आवश्यकता बिलकुल कम हो जाती है। निद्रा के बाद जब मेंढक बाहर निकल आते हैं तब इन हॉरमोन का स्राव बढ़ जाता है और मेंढक फिर से सक्रिय जीवन बिताने लगते हैं।

सोचिए, अगर आपको बहुत गर्मी लग रही हो तो आप क्या करेंगे? या फिर जब बहुत ठण्ड हो जाए तो आप किस जगह जाना चाहेंगे? क्या आपको पता है कि मेंढक जैसे कुछ जीव मौसम बदलने पर क्या करते हैं? ऐसे सवाल बच्चों की जिज्ञासा को जगाते हैं और उन्हें प्रकृति से जुड़ने में मदद भी करते हैं।

कोल्ड ब्लडिड (शीत-रक्त या बाह्यतापी) बनाम वॉर्म ब्लडिड (उष्ण रक्त या नियततापी) जीवों का ज़मीन के भीतर जाना	
• मछली, उभयचर (जैसे मेंढक) और सरीसृप (जैसे छिपकली, साँप आदि) शीत-रक्तीय जीव होते हैं। • ये अपने शरीर का तापमान स्वयं नियंत्रित नहीं कर सकते और बाहरी वातावरण के तापमान के अनुसार खुद को बदलते रहते हैं। • जब मौसम बहुत ठण्डा या बहुत गर्म हो जाता है, तो ये जीव ज़मीन के नीचे जाकर शीतनिद्रा (hibernation) या ग्रीष्मनिद्रा (aestivation) में चले जाते हैं, ताकि शरीर का तापमान स्थिर रखा जा सके। उदाहरण: • मेंढक गर्मियों में सूखी मिट्टी के अन्दर 1-3 फीट तक नीचे चले जाते हैं। • साँप सर्दियों में बिल में छिपकर निष्क्रिय हो जाते हैं।	• पक्षी और स्तनधारी (जैसे मनुष्य, गिलहरी, भालू आदि) उष्ण-रक्तीय जीव होते हैं। • इन जीवों के शरीर का तापमान बाहरी वातावरण से अलग रहता है और आम तौर पर स्थिर रहता है। ये अपने शरीर के अन्दर ऊष्मा उत्पन्न करके, अपने तापमान को नियंत्रित करते हैं। • ये अपने शरीर का तापमान खुद नियंत्रित कर सकते हैं, लेकिन फिर भी ऊर्जा बचाने के लिए ज़मीन के नीचे जाकर शीतनिद्रा के व्यवहार को प्रदर्शित करते हैं। ऐसा वे आम तौर पर निम्न कारणों से करते हैं: - भोजन संग्रह और सुरक्षा - अत्यधिक ठण्ड से बचाव - प्रजनन और बच्चों की देखभाल उदाहरण: • हिमालयी भालू सर्दियों में गुफाओं या ज़मीन में बनी गहरी जगहों में महीनों तक सोते हैं। • गिलहरी कई सुरंगों वाला घर बनाकर, उसमें भोजन और अपने बच्चों को सुरक्षित रखती है।

पैटर्न और अन्य शारीरिक क्रियाओं को नियंत्रित करती है। यह एक जैविक लय है जो शरीर को रोशनी और अँधेरे में होने वाले रोज़मर्रा के अनेकों बदलावों को समझने और उसके अनुसार ढलने में मदद करती

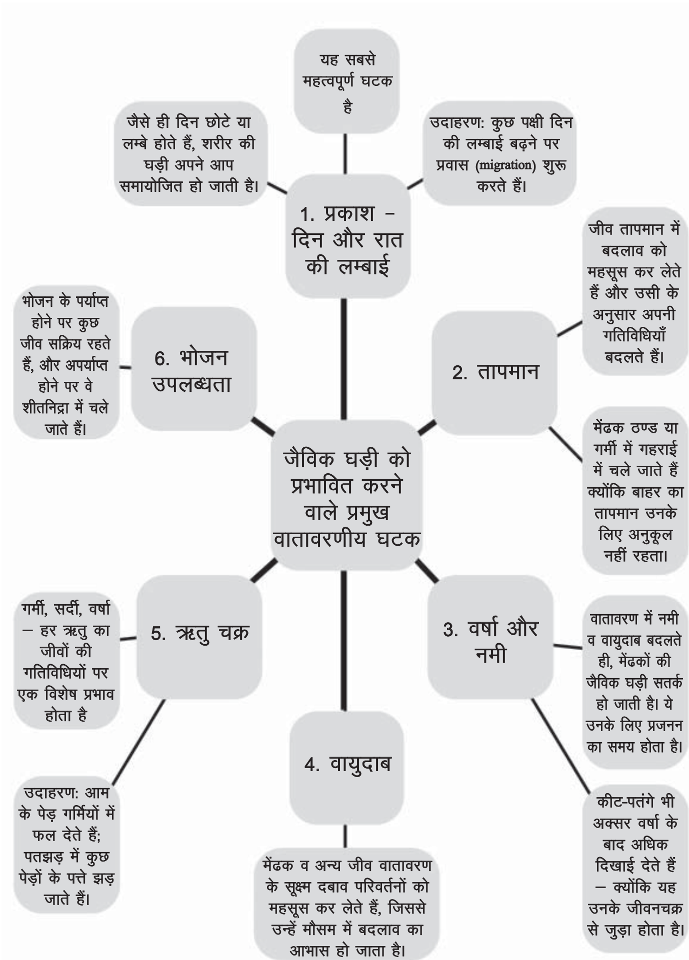

चित्र-1: *जैविक घड़ी को प्रभावित करने वाले प्रमुख वातावरणीय घटक*

है। वैज्ञानिक भाषा में इसे सर्केडियन रिदम* कहा जाता है।

गर्मियों में गुलमोहर या अमलतास का अपने आप खिलना, आम और लीची का मौसम के अनुसार फल देना, या वसन्त में कोयल का गाना – ये सब उनके अन्दर चल रही जैविक घड़ी की वजह से होता है। कुछ पक्षी तो सर्दियों में हर साल हज़ारों किलोमीटर का प्रवास करते

* *संदर्भ में प्रकाशित सर्केडियन रिदम से सम्बन्धित अन्य लेख पढ़िए। अंक-13, एक समयहीन माहौल में समय - बंकर में जीवन; अंक-17, सिरफिरे समुद्री केकड़ों में ज्वारीय लय।*

विज्ञान में इस समस्त व्यवहार को 'Environmental cues influencing biological rhythms' कहा जाता है। न सिर्फ मेंढक बल्कि कई अन्य जीव भी इन संकेतों को अत्यन्त बारीकी से महसूस करते हैं और उसी के अनुसार अपने शरीर और व्यवहार को ढालते हैं।

जीव	कारण	कितनी गहराई तक	अतिरिक्त जानकारी
मेंढक	गर्मी, सूखा या सर्दी से बचाव (ग्रीष्मनिद्रा या शीतनिद्रा)	1 से 3 फीट (30-90 सेमी)	कुछ प्रजातियाँ खुदाई कर सकती हैं, जैसे इंडियन बुलफ्रॉग
बिच्छू	गर्मी से बचाव, शिकार के लिए घात लगाना	6 इंच से 1 फीट (15–30 सेमी)	रेत या मिट्टी के नीचे छिपे रहते हैं, रात में बाहर निकलते हैं
जोंक	सर्दी, गर्मी या सूखे में सुरक्षा के लिए	2 से 6 फीट (60–180 सेमी)	मिट्टी में गहराई तक सुरंग बनाकर रहते हैं। नमी के अनुसार ऊपर-नीचे आते हैं
छिपकली की कुछ प्रजातियाँ	अत्यधिक गर्मी से बचाव	3 से 5 फीट (90–150 सेमी)	राजस्थान और गुजरात के रेगिस्तानी इलाकों में अधिक पाई जाती हैं
साँप	शीतनिद्रा या अण्डे देने के लिए	2 से 6 फीट (60–180 सेमी)	पालतू स्थानों में छिपने के लिए भी ज़मीन में बिलों का उपयोग करते हैं
गिलहरी	शीतनिद्रा, भोजन संग्रह	3 से 6 फीट (90–180 सेमी)	कई सुरंगें बनाती हैं
पहाड़ी भालू	शीतनिद्रा	गुफाओं या खोखले पेड़ों में रहते हैं	ऊँचे हिमालयी क्षेत्रों में पाए जाते हैं

हैं, और फिर मौसम बदलते ही वापस भी लौट जाते हैं – रास्ता भी याद रखते हैं – बस अपने शरीर में मौजूद इस अद्भुत घड़ी और पर्यावरणीय संकेतों के सहारे।

• मेंढकों की जैविक घड़ी कैसे काम करती है?

मेंढक जब गर्मी में ज़मीन के भीतर चले जाते हैं तो ऐसा नहीं है कि उन्हें कोई बताता है कि 'अब गर्मी हो गई, अन्दर जाओ'। यह संकेत उन्हें उनकी जैविक घड़ी और वातावरण में मौजूद संकेतों से मिलता है। बारिश का मौसम आते ही जैसे ही नमी बढ़ती है, दबाव घटता है और मौसम नम होता है, उनकी घड़ी उन्हें बताती है – 'अब बाहर निकलने का समय है'। साथ ही, यह समय उनके प्रजनन के लिए भी सबसे उपयुक्त होता है – सतह पर पानी और साथी, दोनों उपलब्ध होते हैं।

• कौन-कौन से पर्यावरणीय संकेत जैविक घड़ी को प्रभावित करते हैं?

मेंढकों और अन्य जीवों की जैविक घड़ी को कई प्राकृतिक संकेत प्रभावित करते हैं, जैसे दिन-रात की लम्बाई (प्रकाश), तापमान में बदलाव, वर्षा और वायुदाब में परिवर्तन, मौसम का चक्र और भोजन की उपलब्धता। उदाहरण के लिए, जैसे ही सर्दियों में दिन छोटे होने लगते हैं, कई जीवों की गतिविधियाँ धीमी हो जाती हैं। वर्षा के मौसम में जब नमी और कीड़े-पतंगे बढ़ जाते हैं, तो मेंढक सतह पर सक्रिय हो जाते हैं।

• अन्त में एक सवाल

क्या इन्सान भी मौसम बदलने से पहले कुछ महसूस कर सकते हैं? क्या आपने कभी मौसम बदलने पर किसी शारीरिक अनुभूति में कोई बदलाव महसूस किया है?

प्रकृति के इन अद्भुत संकेतों को समझना न केवल वैज्ञानिक दृष्टि से रोचक है, बल्कि यह हमें सिखाता है कि जीवधारी वातावरण के साथ कितनी गहराई से जुड़े होते हैं – और यही जुड़ाव उन्हें जीवन में टिके रहने की शक्ति देता है।

अम्बिका नाग: पिछले 20 वर्षों से विविध संस्थानों में शिक्षा और इससे जुड़े विविध आयामों पर काम किया है। वर्तमान में पीपुल फाउण्डेशन, भोपाल में कार्यरत हैं।

इस बार का सवाल: दोपहिया वाहन घुमावदार सड़क पर मुड़ते वक्त अपने अक्ष पर क्यों झुक जाते हैं?

आप हमें अपने जवाब sandarbh@eklavya.in पर भेज सकते हैं।

प्रकाशित जवाब देने वाले शिक्षकों, विद्यार्थियों एवं अन्य को पुस्तकों का गिफ्ट वाउचर भेजा जाएगा जिससे वे पिटाराकार्ट से अपनी मनपसन्द किताबें खरीद सकते हैं।

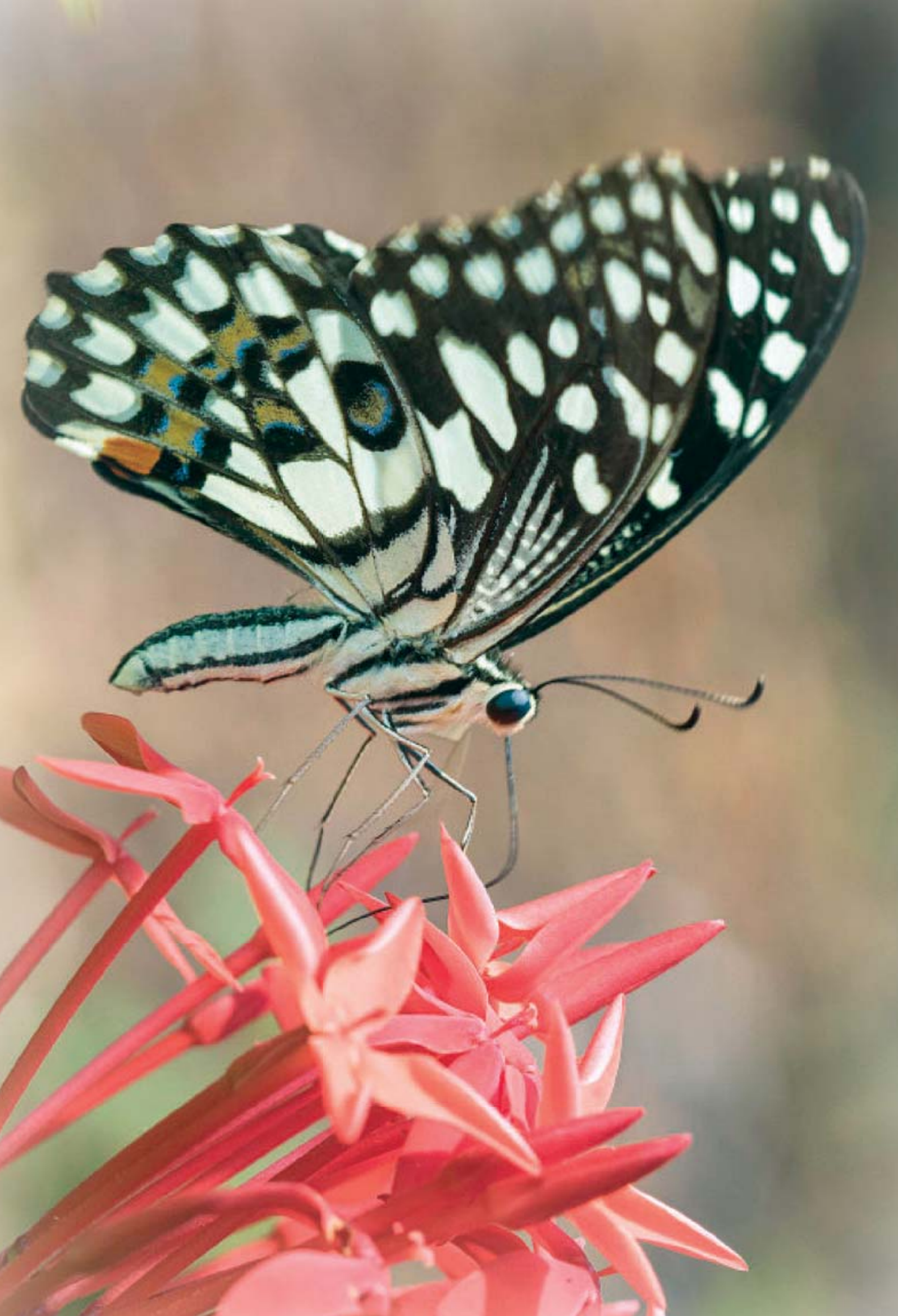

RNI No.: MPHIN/2007/20203

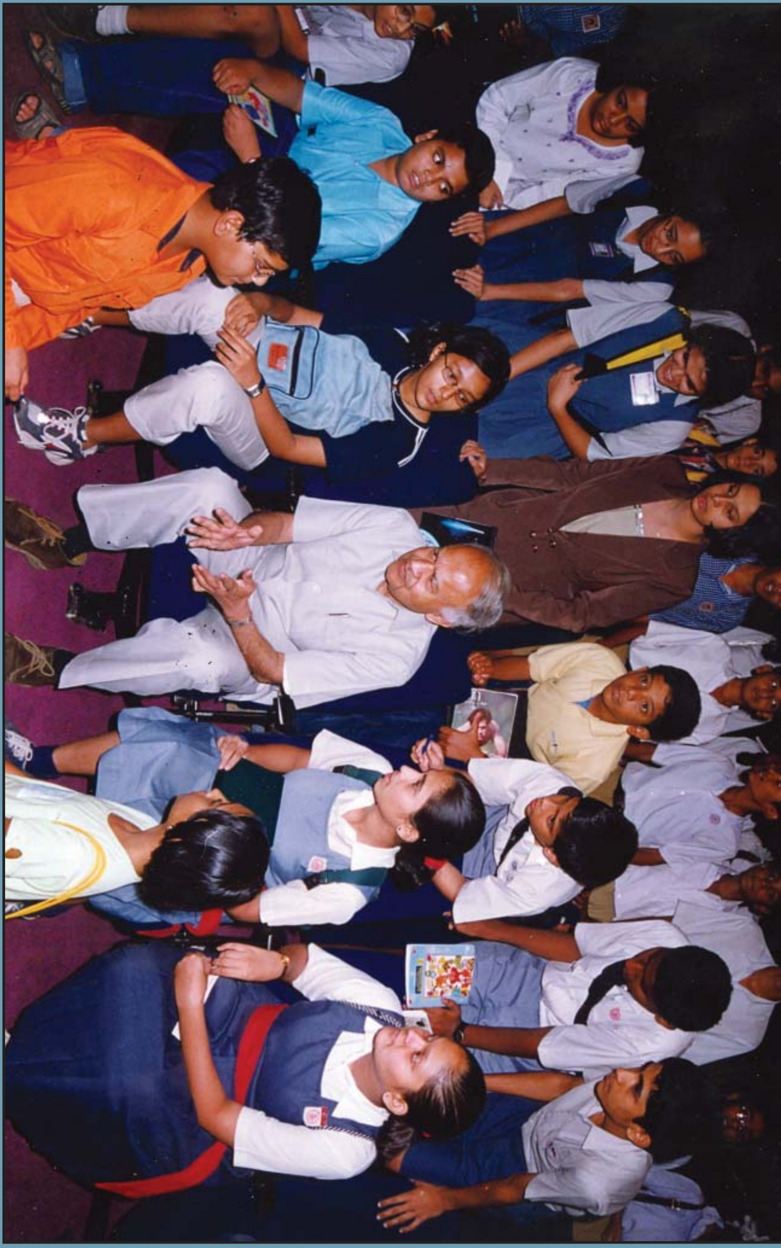

बच्चों के साथ जयंत नारलीकर

प्रकाशक, मुद्रक, टुलटुल बिस्वास द्वारा निदेशक एकलव्य फाउण्डेशन की ओर से, एकलव्य, जमनालाल बजाज परिसर, जाटखेड़ी, भोपाल - 462 026 (म.प्र.) से प्रकाशित तथा भण्डारी प्रेस, ई-2/111, अरेरा कॉलोनी, भोपाल - 462 016 (म.प्र.) से मुद्रित, सम्पादक: राजेश खिंदरी।